'विनोद रत्न-माला' की छठी पुस्तक—

मास्टर साहब

(मौलिक उपन्यास)

लेखक—

श्रीयुत् ऋषभचरण

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक कार्यालय,
कूचा पातीराम,
देहली।

पहली बार] १९२१ ई० [दो रुपया

प्रकाशक—
हिन्दी पुस्तक कार्यालय,
कूचा पातीराम,
देहली।

मुद्रक—
पं० रामचन्द्र शर्म्मा,
महारथी प्रेस,
देहली।

मास्टर साहब

ऋषभचरण-लिखित

विनोद रत्न-माला

हिन्दी साहित्य की उन्नति, हिन्दी भाषा के प्रसार, और पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उपरोक्त पुस्तक-माला हमारे कार्यालय से निकलनी आरम्भ हुई है। इस माला में केवल उपन्यास वा गल्प-संग्रह-ही प्रकाशित होते हैं। प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक की भाषा अत्यन्त सरल रखने की चेष्टा की जाती है, जिससे सर्व-साधारण भी समुचित लाभ उठा सकें। स्थायी ग्राहकों की प्रवेश-फ़ीस आठ आना है, जो ग्राहक-श्रेणी से नाम कटाने-वालों को सादर लौटा दी जाती है। स्थायी ग्राहकों को माला की प्रत्येक पुस्तक पौने मूल्य में मिलेगी। पुस्तक प्रकाशित होने पर ग्राहकों को सूचना दी जाती है, और आठ दिन बाद कमीशन काट कर वी. पी. भेजदी जाती है। वी.पी. वापिस करने वालों की प्रवेश-फ़ीस ज़ब्त कर ली जाती है। मनी-ऑर्डर अथवा डॉक-टिकिटों-द्वारा मूल्य भेजने वालों को वी. पी. ख़र्च की बचत हो जायगी। स्थायी ग्राहकों को माला की कम-से-कम १०) रु० की पुस्तकें लेनी होंगी।

नोट—स्थायी-ग्राहकों को हमारे यहाँ से प्रकाशित अन्य सभी पुस्तकें पौने मूल्य में मिलेंगी।

विनोद-रत्न-माला

के

पहले दस रत्न

१	पैसे का साथी	... ...	१॥)
२	नौ आँसू	... ...	१।)
३	दिल्ली का व्यभिचार	... ...	१)
४	बिखरे-मोती	... ...	॥।)
५	वेश्या-पुत्र	... ...	२॥)
६	मास्टर साहब	... ...	२)
७	फाँसी	(प्रेस में)	१॥)
८	अन्त	"	१॥)
९	परख	"	१)
१०	अज्ञात	"	१)

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखा कर उर्दू-जननी दिल्ली की गोद में हिन्दी को बैठाने में हमारी मदद कीजिये।

आपका—

अध्यक्ष—हिन्दी पुस्तक कार्यालय,

कूचा पातीराम, देहली।

आवेदन

'विनोद-रत्न-माला' की छटी पुस्तक के रूप में ऋषभचरण जी का 'मास्टर साहब' आपकी भेंट किया जा रहा है। यह हम और आप—दोनों-ही के लिये हर्ष की बात है।

'मास्टर साहब' मौलिक उपन्यास है, और अपने ढङ्ग का अनूठा है। हिन्दी की इनी-गिनी मौलिक रचनाओं में इसका काफ़ी अच्छा स्थान होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। छोटे-से कथानक और तीन-चार पात्रों में-ही मानव-हृदय के घात-प्रतिघातों को समझाने और वर्णन करने में लेखक ने जिस उज्ज्वल और आशाजनक प्रतिभा का परिचय दिया है, उसे देख कर कोई भी निष्पक्ष और सहृदय पाठक कह उठेगा—"ख़ूब लिखा है!"

इस उर्दू-प्रधान प्रान्त में मातृ-भाषा का प्रचार करने के अभिप्राय से-ही हमने दिल्ली में हिन्दी-पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया है। हर्ष की बात है, कि यहाँ भी क्रमशः हिन्दी के प्रेमी बढ़ते जा रहे हैं। फिर भी बड़े अध्यवसाय की आवश्यकता है। वह घड़ी हमारे लिये बड़े सुख की होगी जब यहाँ भी अन्य हिन्दी प्रान्तों की तरह चारों ओर हिन्दी माँ का एक-छत्र प्राधान्य होगा।

हम उस घड़ी को लाने का घोर प्रयत्न करेंगे।

परन्तु, क्या आप हमारे प्रयत्न में सहायक न होंगे? हम इसका उत्तर 'न' में सुनने को तैयार नहीं हैं, न ऐसा सुनने की हमें आशा है। क्यों कि हमारी पिछली प्रार्थना पर हमें सन्तोष-जनक सहयोग प्राप्त हुआ है।

'विनोद-रत्न-माला' की पाँचवीं पुस्तक 'वेश्या-पुत्र' के आवेदन पर ध्यान देकर १२८ बन्धु अब तक माला के स्थायी ग्राहक बन चुके हैं। कम-से-कम मूल्य में हम अच्छी-से-अच्छी वस्तु आपके पास पहुँचा सकें, यह हमारी भावना है, परन्तु यह तभी सम्भव है, जब आप कम-से-कम स्वयं स्थायी ग्राहक बनकर हमारा उत्साह बढ़ायें। क्या हमारी विनीत प्रार्थना आपके हृदय पर कुछ असर करेगी?

भाई ऋषभचरण की लेखिनी में अभी से जो उत्साह है, और उनके नौजवान हृदय में जो अग्नि-कोष है, उसे देखते हुए हम उनसे बहुत-कुछ आशा कर सकते हैं, और बहुत सम्भव है कि कभी ऐसा समय आवे, जब आपकी रचनाओं पर हमारी भाषा, हमारा समाज और हमारा देश गौरव का अनुभव करें।

हमारी आशा फलवती हो!

विनीत,

—प्रकाशक

Love all, trust a few,
Do wrong to none, be able for thine enemy.
Rather in power than use, and keep thy friend
Under thine own life's key: be check'd for silence
But never tax'd for speech.

—*Shakespeare*

एक

मुरारीलाल और हेतराम की उपमा उन जामुन और आम के दो पेड़ों से दी जा सकती है, जो अलग-अलग पैदा होकर भी लिपटे हुए एक साथ-ही बढ़े हों। दोनों एक-ही गाँव में पैदा हुए, एक-ही साथ बढ़े, एक-ही साथ प्राइमरी स्कूल की परीक्षाओं में से तैरे और एक-ही साथ शहर के हाई स्कूल में पढ़ने भेजे गये। इसके बाद प्लेग की बीमारी में दोनों एक साथ-ही अनाथ हुए।

अगर हम मुरारीलाल को जामुन का पेड़ मान लें, और हेतराम को आम का, तो इस आम के पेड़ के विषय में एक ख़ास बात कहनी पड़ेगी। यह आम का पेड़ जामुन के चारों तरफ़ बल खाता हुआ बढ़ा था, और प्रकृति ने जामुन के पेड़ से उसे ख़ूब गुथा दिया था। इस गुत्थी या लिपटन ने आम के पेड़ को कमज़ोर बना दिया था और ज़रा ज़ोर की हवा चलते-ही यह इधर-उधर डगमगा जाता था। पर जामुन का पेड़ इतना दृढ़ और अविचलित था, और आम के पेड़ की यह प्राकृतिक गुत्थी इतनी मज़बूत थी, कि रोज़-रोज़ हलके-से-हलके और भारी-से-भारी झोंके खाकर भी ये दोनों पेड़ इसी भाँति गुथे खड़े रहे। पाठकगण इस छोटे-से अलङ्कार में मुरारीलाल और हेतराम के स्वभावों को समझने की चेष्टा करें।

मुरारीलाल थे वैश्य, और हेतराम ब्राह्मण। पर इस भेद ने उनका स्नेह पतला न होने दिया। दोनों ने घोर कष्ट सह कर भी इण्ट्रेन्स पास किया—और एक साथ-ही। कॉलिज की दुधार गाय-गौ ख़रीदने के लिये उनके पास काफ़ी दाम न थे, अतः उन्होंने ट्यूशनों से गुज़ारा चलाते हुए नौकरी की खोज शुरू की। पर जब संयोग-

वश एक महीने बाद-ही मुरारी के सब ट्यूशन छूट गये तो उसने एक सरकारी प्राइमरी नाइट-स्कूल में मास्टरी कर ली। पर नौकरी की खोज तब भी रही। दोनों के दिन तङ्गी से कटते थे।

इसी तङ्गी में दोनों ने डेढ़ वर्ष बिताया। मुरारीलाल नाइट-स्कूल की मास्टरी-ही करते रहे, और हेतराम अपने ट्यूशनों पर गुज़ारा चलाते रहे। पर दोनों-ही अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट थे, और निरन्तर किसी अच्छी नौकरी की खोज में रहे। न सोलह रुपये की मास्टरी और चार रुपये की तीन घण्टे ख़त-लिखाई मुरारी के लिये सुखजनक थी, न चार-चार और पाँच-पाँच रुपये के आधी दर्जन के लगभग दिमाग़-खपाऊ ट्यूशन हेतराम को पसन्द!

एक दिन अख़बार के पन्ने पलटते हुए मुरारीलाल की नज़र निम्न विज्ञप्ति पर पड़ी:—

आवश्यकता है, ऐसे दो सामान्य हिन्दी-अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे युवकों की, जो क्लर्की का काम बख़ूबी कर सकें। वेतन योग्यतानुसार।

—रासबिहारी गुप्त,

एम. ए. एल-एल. बी. वकील हाइकोर्ट।

दोनों मित्र दूसरे दिन नगर के प्रसिद्ध वकील श्री० रासबिहारी गुप्त के मकान पर उपस्थित हुए। गुप्तजी चालीस वर्ष के पुराने वकील हैं। इस चालीस वर्ष के समय में उन्होंने दोनों हाथ धन, मान और नाम कमाया। नगर के एक गुलज़ार बाज़ार में उनकी विशाल हवेली थी। उनके घर पहुँचने के लिये दोनों को किसी से पूछना न पड़ा।

दोनों के भाग्य में वकील साहब का नमक बदा था, नौकरी मिल गई। अगले दिन से दोनों ने काम शुरू कर दिया।

गुप्तजी का परिवार बड़ा संक्षिप्त था। आप थे और उनकी अधेड़ विधवा पुत्री थी। उस विशाल सम्पत्ति को भोगने वाला इन दो प्राणियों के अतिरिक्त कोई न था।

वकील साहब आदमी थे, गम्भीर और बेबाक। खुद बड़े कर्त्तव्यशील थे और दूसरे को कर्त्तव्यशील देखना चाहते थे। इस बुढ़ापे में भी वे जवानों की फुर्ती से काम करते थे। सिद्धान्त के मज़बूत और बड़ी देर में कोई विचार स्थिर करने वाले थे। बुढ़ापे के साथ जो मनुष्य में एक प्रकार की अन्धी और भोली दुर्बलता का आवि-

भाव होजाता है, वकील साहब में उसका अभाव था। चालीस वर्ष की अवस्था में—कोई दो दर्जन वर्ष हुए—वे विधुर हो गये थे। तब से उन्होंने विधुर जीवन बिताया। लड़का कोई था नहीं, लोगों ने विवाह करने की राय दी। पर वकील साहब उन आदमियों में से नहीं थे, जो बेटे को-ही 'नाम-लेवा-पानी-देवा' समझते हैं। उन्होंने दृढ़ता-पूर्वक विवाह न करने का निश्चय किया। और अब तक अपने निश्चय पर अटल रहे।

सावित्री उनकी पुत्री का नाम था। पिता को अकेला देख—जब वे समझाने पर भी विवाह को राज़ी न हुए—वह उनके पास रहने लगी। वकील साहब पुत्री पर असाधारण स्नेह रखते थे। सावित्री भी पिता को हृदय से प्यार करती थी। यद्यपि उसमें स्त्री-हृदय की सामान्य दुर्बलताओं का अभाव न था—और यद्यपि इन दुर्बलताओं के प्रकाशित होने की वर्षों से आवश्यकता नहीं पड़ी थी—तो भी वह पिता के और अपने प्रेम का दुरुपयोग नहीं करती थी। पिता के प्रति उसके हृदय में—जब से वह पासरहने लगी—यद्यपि कुछ अंशों में, स्नेह के स्थान पर आदर अधिकार कर बैठा था, तो भी वह उसी बचपन के-से स्नेह-सिक्त स्वर में पिता से एक अनुरोध

करने में कभी न हिचकती थी। सुबह-शाम—मौक़ा मिलते-ही—वह पिता से किसी योग्य लड़के को गोद लेने का अनुरोध करती। और उसके देवर का लड़का रतन इस पद के लिये उम्मेद्वार था। वकील साहब इस प्रस्ताव को सदा उपेक्षा के साथ हँस कर टाल देते थे।

मुरारी और हेतराम ने दो महीना वकील साहब की नौकरी में रहकर ये सब बातें देखीं-सुनीं।

मुरारी अधिक गम्भीर था और हेतराम ऐसा था जिसके भाव बहुत शीघ्र बदल जाते थे;—जैसा कि शुरू के अलङ्कार में कहा जा चुका है। सावित्री के अनुचित अनुरोध की बात सुनकर उसे उससे विरक्ति हुई और उसने अपने भाव को मुरारी पर भी व्यक्त कर दिया। मुरारी ने इस विषय में अपना कोई मत न देकर कहा—"भैया, संसार स्वार्थ-मय है। हमें वकील साहब की नौकरी में रह कर कोई ऐसी बात मुँह से नहीं निकालनी चाहिये, जो किसी प्रकार उनकी नाराज़गी का कारण हो। बेटी पर वकील साहब का अगाध विश्वास है, उसके प्रतिकूल कही हुई बात अवश्य उनकी रुष्टता का कारण होगी।"

हेतराम ने मुँह बिचका कर कहा–"नौकरी की है तो मुँह सीकर थोड़ा-ही रहेंगे ! आत्मा थोड़ा-ही बेच दी है ! दो सौ घण्टे टाइप पर टिक-टिक करनी पड़ती है, तब तोस रुपल्लो के दर्शन होते हैं !"

मुरारी ने कुछ दुःखी होकर कहा–"परिस्थिति सब-कुछ करा लेती है भैया, समय पड़ने पर सब-कुछ सहना पड़ता है—मुँह भी सीना पड़ता है, आत्मा भी बेचनी पड़ती है।"

पर स्वाभिमानी हेतराम को मुरारी की बात पसन्द न आई। उसने अपनी ग़रीबी की बात सोचते हुए कहा—"पर कुछ भी हो, बुद्धिमान् वकील साहब को फँसाया खूब है सावित्री ने अपने स्नेह-जाल में। उस दिन रसोइया-महाराज कह रहे थे–'रसोई में चार रुपए रोज़ से अधिक ख़र्च नहीं है, पर बीबीजी रोज़ दस रुपए का नोट वकील साहब से लेती हैं ! डेढ़ सौ रुपये महीने को गुल्ला बना रही है।"

मुरारी ने हेतराम के मुँह पर हाथ रख कर कहा—"राम ! राम ! अरे चुप कर यार—कैसी बात मुँह से निकालता है !"

हेतराम ने कहा—"क्या तुम्हें मेरी बात में कुछ

सन्देह है ?"

"कुछ नहीं, पूरा !" मुरारी ने कहा—"मैं सावित्री को देवी समझता हूँ। यों स्त्री-हृदय की मानसिक दुर्बलताओं का अभाव देवियों में भी नहीं होता—जैसा कि पुराण कहते हैं—, पर चोरी ! राम ! राम ! ऐसी बात पर तुमने विश्वास-ही कैसे कर लिया ?"

हेतराम ने सन्देह की हिलती हुई डाल पर बैठ कर कहा—"परन्तु रसोइया-महाराज अपने अयोध्या हो आने की दुहाई देकर जनेऊ छू रहे थे—अपनी बात की पुष्टि में।"

मुरारी ने कहा—"इन रसोइया महाराज और नौकरों की दाल नहीं गलती है न ! इसी लिये ये लोग तुझ-मुझ से अपने दिल का गुबार निकाला करते हैं। भला सावित्री बेचारी पचास वर्ष की हुई, वे पिता के धन का क्या बनायेंगी ?"

हेतराम बोला—"सुनता हूँ, अपने भतीजे रतन को यह बहुत प्यार करती है; पिता के धन से ख़ूब उसी का घर भरती है।"

मुरारी हँसा। कहने लगा—"वाह भाई, वाह ! तुम भी यार, यों-ही रहे। स्नेह-मय पिता को छोड़ कर वे भला

पर-पुत्र से प्रेम करने जायेंगी? अपना बेटा होता, तो भी कोई बात थी। अच्छी बात पर विश्वास किया, जिसका सिर न पैर!"

हेतराम कहने लगा—"अच्छा तो यह रतन को गोद लेने के लिये पिता को इतना कुरेद क्यों रही है?"

मुरारी बोला—"अपने पिता का घर बनाना कौन नहीं चाहता? और इससे तो उनका प्रेम-ही ज़ाहिर होता है।"

पर हेतराम मुरारी की बात न मान सका। रसोइया-महाराज की जनेऊ छूकर शपथ और अयोध्या-यात्रा का विश्वसनीयता का प्रमाण!!

दो, एक-ही स्थिति-वाले आदमियों में से एक यदि हमसे उपेक्षा प्रकट करे तो दूसरे से स्वाभाविकतया-ही स्नेह-सा हो जाता है। सावित्री ने हेतराम की विरक्ति को—अपने प्रति—ताड़ लिया; अतएव उन्हें मुरारी से अपने आप-ही प्रेम-सा हो गया। और मुरारी की पक्ष उन्हें इस लिये भी ज़्यादा थी कि वह उनका जाति-भाई था।

उस वर्ष गर्मी सख़्त थी। दिसम्बर के महीने में ऐसी सख़्त गर्मी अभूत-पूर्व थी। मुरारीलाल की नाक से ख़ून बहने लगा। वकील साहब कचहरी गये हुए थे।

सावित्री ने सुना, तो अपना कमरा छोड़, झपटी नीचे चली आई, और व्यग्रता-पूर्वक—मुरारी के मना करते रहने पर भी—उसने उसका उपचार आरम्भ किया।

सावित्री को उपचार में लगा देख, हेतराम मुँह बना कर अपना काम करता रहा, और उस की ओर उसने कई बार ऐसी दृष्टि से देखा मानों उसके उपचार को भी वह प्रपञ्च-पूर्ण समझता था।

पर सावित्री ने उसके भाव की तरफ़ ध्यान न दिया। वह उत्सुकता-पूर्वक मुरारी की नाक का ख़ून बन्द करने में प्रयत्न-शील रही, और उसके बाद उसने उसे काम न करने दिया और उपने कमरे में आराम से बैठाया।

मुरारी को यद्यपि साधारण नकसीर की राई-मात्र पर्वाह न थी, और वह इस उपचार और रईसी ख़ातिर-तवाज़ः को हास्यास्पद-सी समझ रहा था; तो भी उसने सावित्री की चेष्टा और उसके भाव में माँ के प्रेम का मज़ा पाया। कोमल बिस्तर पर लेट कर उसने इस मज़े का अनुभव करने के लिये आँखें बन्द करलीं और कुछ मिनटों के बाद-ही उसे नींद ने गले लगा लिया।

शाम को पाँच बजे उसकी नींद खुली। हड़बड़ा

ओर कर उठ बैठा; मानों स्वप्न देख रहा हो। सावित्री आई पूछने लगी—"अब तबियत कैसी है ?"

मुरारी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ झेंप गया। तबियत को उसकी हुआ-ही क्या था ? फिर भी नीचा सिर करके बोला—"अच्छी है।"

इतने में नीचे से वकील साहब की आवाज आई—वे किसी नौकर पर चिल्ला रहे थे। मुरारी ने चौंक कर कहा—"ओहो ! वकील साहब आगये ?"

सावित्री ने कहा—"हाँ, अभी, कोई आध घण्टा हुआ।"

मुरारी ने झटपट जूता पहना और नीचे चला।

हेतराम खटाखट टाइप चला रहा था और वकील साहब नौकर पर नाराज़ हो रहे थे। हेतराम ने एक बार कनखियों से मुरारी को ताका और फिर अधिक व्यस्तता से अपने काम में लगा।

वकील साहब ने नौकर को छोड़कर मुरारी को देखा और गम्भीरता-पूर्वक—जिसमें रुखाई की मिलावट थी—पूछा—"क्या हुआ था ?"

मुरारी ने अपराधी की तरह उनकी ओर देखा। इतने में सावित्री वहाँ आई। वकील साहब ने उसकी

देखा, और फिर मुरारी से पूछा—"क्या बात हुई आज ?"

मुरारी की सङ्कटावस्था सावित्री ने समझी, अथवा नहीं, यह हम नहीं कह सकते, पर, उसने वकील साहब की बात का उत्तर देकर उसे बचा लिया—"नकसीर छूट गई थी। बहुत रक्त जाने के कारण इन्हें बड़ी कमज़ोरी आगई थी।.........."

वकील साहब ने कहा—"देखें तो, कितना टाइप किया है, मुरारी।"

मुरारी मन-ही-मन मरा-सा जा रहा था। उसने शिथिल-सा होकर टाइप किये हुए काग़ज़ उठाये और वकील साहब के सामने लाकर रख दिये।

"एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात," वकील साहब ने काग़ज़ गिन कर कहा—"कुल सात पेज ?"

मुरारी ने कहा—"मैंने बारह बजे तक-ही तो टाइप किया था।"

"ओहो !" वकील साहब बोले—"दिन-भर सोते रहे ! ....क्या रात-भर जागते हो ?"

"जी हाँ," मुरारी आत्म-श्लाघा का लोभ न त्याग सका। बोला—"रात को तो लगभग सारी रात-ही आँखें फोड़नी पड़ीं।"

इसी समय वकील साहब का ध्यान संयोगवश दूसरी तरफ़ चला गया, और मुरारी की पूरी बात सुनकर उनके हृदय में जिस स्वाभाविक उत्सुकता का आविर्भाव होता, वह होने से रह गया। मुरारी की बात समाप्त होने के बीस सेकण्ड बाद उन्होंने उसकी तरफ़ लक्ष्य कर कहा—"हाँ, तो तुमने सात पेज टाइप किया। अभी तो बहुत बाक़ी है,—पन्द्रह, सोलह, सतरह। बड़ा ज़रूरी काम था। तुमने कितना किया है, हेतराम? देखें।"

हेतराम टाइप-राइटर पर उँगली चलाता हुआ भी ध्यान से यह वार्त्तालाप सुन रहा था। उसने टाइप किये हुए काग़ज़—मेज़ पर इधर-उधर छितरे हुए—समेट कर वकील साहब के सामने रखे और व्यस्तता से कहा—"एक-डेढ़ पेज और रह गया है, अभी सब समाप्त किये देता हूँ।"

वकील साहब ने हेतराम के बाइस पेज गिनकर, प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा, अच्छा, करो समाप्त, इसके बाद तुम्हारी छुट्टी!"

पिटे हुए छात्र की तरह मुरारी अपने सात काग़ज़ लेकर टाइप-राइटर की तरफ़ चला। वकील साहब ने कहा—"जाओ, अब तुम्हारी भी छुट्टी है। उधर जाकर

क्या लोगे ?"

वकील साहब के वाक्य में भर्त्सना की गन्ध सूँघकर मुरारी ने ला-पर्वाही से कहा—"मैं इन पेजों को समाप्त करके-ही घर जाऊँगा।"

वकील साहब हँस कर बोले—"अरे! अब वक़्त कहाँ है? जाओ, इस वक़्त जाओ, ऐसा-ही है तो कल ज़रा जल्दी आजाना।"

मुरारी कुर्सी पर बैठते हुए बोला—"जितना अब टाइप कर सकता हूँ, वह तो कर लेता हूँ।"

मुरारी ने उँगलियों को हरकत दी।

हेतराम मुरारी की सभी चेष्टाओं को ध्यान से देख-सुन रहा था। उसे टाइप पर बैठता देख, वह मुरारी की कर्त्तव्य-निष्ठा पर कुछ झुँझलाया, कुछ बड़बड़ाया और कहना पड़ता है कि कुछ निराश भी हुआ!

वकील साहब ऊपर चले गये।

अपना काम समाप्त कर हेतराम उठा, और मुस्कुरा कर मुरारी से बोला—"चलते हो, जी?"

मुरारी ने क्षण-भर के लिये उँगलियाँ रोक कर कहा—"अभी नहीं, तुम चलो, मैं आजाऊँगा।"

"क्या सारा समाप्त करोगे?" हेतराम ने कुछ ताने

मास्टर साहब

पिटे हुए छात्रा की तरह मुरारी अपने सात काग़ज़ लेकर टाइप-राइटर की तरफ़ चला।

(पृ० स० २३)

से कहा—"रात के नौ बजेंगे!"

"आऊँगा तो समाप्त करके-ही।" मुरारी ने लाइन बदलते हुए कहा।

इसके बाद मुरारी, हेतराम को कुछ कहने का मौक़ा न दे, अपने काम में लगा। हेतराम कोट पहन कर घर चला।

सावित्री से विरक्ति प्रकट करने के कारण हेतराम सब नौकरों की प्रशंसा और सहानुभूति का पात्र बना हुआ था। बल्कि नौकर लोग उसे अपना मुखिया समझने लगे थे, और बड़ी बे-तकल्लुफ़ी से उससे वार्त्तालाप किया करते थे। जब हेतराम बाहर दर्वाज़े पर पहुँचा तो नत्थुआ ने पूछा—"बाबू, आज साहब हम पर ख़ाम-ख़ा इतने क्यों बिगड़ पड़े?"

हेतराम ने धीरे-से कहा—"असल में यार, तुम्हारे ऊपर तो व्यर्थ की बला आपड़ी। असल गुस्सा तो मुरारी पर था। और गुस्से की बात-ही थी;—ऐसी-ऐसी नकसीर दिन में छः दफ़ा छूटती है। गये और सोगये सेज पर पैर फैलाकर छःघण्टे के लिये; मानों बाप-दादा का दीवानख़ाना हो।"

नौकर-लोग सावित्री की बुराई में सदा हेतराम को सहयोग दिया करते थे—मुरारी की बुराई न कभी

हेतराम ने की-ही थी, और न उन्हें उससे कोई शिकायत थी। परन्तु अपने मुखिया से एक आदमी की बुराई सुनकर ननुआ भी एक-दम उसके विरुद्ध हो गया, और बोला--"भला कोई बात है! यह नौकरी है बाबू, यहाँ सहन्साही करने से काम नहीं चलता।"

हेतराम अपने अनिश्चित् और अस्थिर अभ्यासानुसार बोला—"सावित्री ने-ही तो इसका दिमाग़ आसमान पर चढ़ाया है। वकील साहब अब घर का हिसाब मुरारी के हाथ में देने का विचार कर रहे हैं न!"

हेतराम की कमीनी बात सिर से पैर तक झूठी थी! पर ननुआ को इस बात पर अविश्वास की बजाय विश्वास करने में ज़्यादा मज़ा आया। उसने कहा—"हूँ, यह बात है! मैं भी तो कहूँ, इतनी ख़ातिर क्यों!"

इतने में रसोइया-महाराज उधर आ निकले। पूछा—"क्या है रे, ननुआ?"

ननुआ को नमक-मिर्च लगा कर अपनी बात की छिरावृत्ति करते छोड़, हेतराम प्रसन्न होता हुआ घर को चला।

मुरारी, इन सब बातों से अनभिज्ञ, रेल के इञ्जिन की तरह अन्धा-धुन्ध लाइन-पर-लाइन छापे जारहा था।

दो

रात के नौ बजे मुरारी ने पच्चीस पेज पूरे टाइप किये। बड़ी लम्बी साँस लेकर उसने प्रसन्न नेत्रों से अपने चार घण्टे के अनवरत परिश्रम को देखा। सब पेजों को हाथ में समेट कर वह ऊपर चला। वकील साहब अकेले बैठे थे। मुरारी ने प्रसन्न-चित्त दफ़्तर में प्रवेश किया और अपना काला मुँह धोने-वाले पच्चीसों पेज उनके सामने रख दिये।

रासबिहारी बड़े खुश हुए। मुरारी को कुर्सी पर बैठने का संकेत करके उन्हों ने काग़ज़ों को उलट-पलट कर देखा और कहा—"ठीक!"

फिर बोले—"मुरारी, तुमने अपने शरीर पर अत्याचार किया है!"

मुरारी पहिले चुप रहा। फिर बोला—"मैं अपने प्रमाद पर बड़ा लज्जित हूँ। कल सारी-रात जागते रहने के कारण-ही ऐसा हुआ।"

वकील साहब ने दिलचस्पी से कहा—"क्यों जागे? क्या कुछ तबियत ख़राब थी?"

"नही!" कह कर मुरारी कुछ हिचका। फिर कहने लगा—"असल में मैं आजकल एफ़. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ।"

"अच्छा!" वकील साहब ने गम्भीर अनुराग-पूर्वक कहा—"इसी साल बैठने का इरादा है?"

मुरारी ने कहा—"देखिये—इरादा तो है, अगर पूरा होजाय।"

वकील साहब ने अस्वाभाविक अन्तर पर—यद्यपि वह अप्रिय न था—कहा—"अच्छा है।"

मुरारी उठकर चलने लगा। इतने में सावित्री

आगई। बोली—"ठहरो, तुम्हारे लिये भोजन आरहा है।"

"भोजन ?" मुरारी ने कहा—"भोजन तो मैं करूँगा नहीं।"

सावित्री ने कहा—"क्यों ?"

मुरारी बोला—"भोजन तैयार होगा। मेरी प्रतीक्षा में हेतराम भी भूखा बैठा होगा।"

सावित्री ने कई बार अनुरोध किया, पर मुरारी ने स्वीकार न किया। असल में वह वकील साहब के कहने का इन्तज़ार कर रहा था। वे कहते तो वह अवश्य स्वीकार कर लेता। सावित्री ने भी उसके भाव को ताड़ लिया। उसने कई बार वकील साहब की ओर देखा। पर वे गम्भीर बने बैठे रहे। उन्होंने मुरारी से भोजन के लिये न कहा। मुरारी अभिवादन कर चला गया।

सावित्री पिता से बोली—"बड़ा परिश्रमी लड़का है।"

वकील साहब ने कहा—"हाँ, मुझे भी ऐसा-ही जान पड़ता है। इसे सुयोग मिले तो यह बड़ी उन्नति कर सकता है।"

"भोजन कर तो लेता वह," सावित्री ने कहा—"यदि आप एक बार टोक देते।"

"हाँ," वकील साहब ने कहा—"पर मैंने टोकना

उचित न समझा।"

सावित्री ने पूछा—"क्यों ?"

वकील साहब ने उत्तर में कहा—"इसका जीवन दुःख की आग में से गुज़र रहा है। आशा है, यह आग सदा के लिये इसका भविष्य निखार देगी। मैं इसे कोई रिआयत देकर इसकी उन्नति में बाधक नहीं बनना चाहता।"

वकील साहब की युक्ति सावित्री की समझ में न आई।

+ + + +

हेतराम घर पहुँचा। दोनों दोस्त एक साफ़ गली में कोठा किराये लेकर रहते थे। हेतराम ताला खोल कर कमरे में गया और कोट-टोपी उतार कर चारपाई पर पड़ रहा। इस तरह अकेले आकर पड़ना उसे बहुत अखरा। सावित्री का प्रेम देख कर वह बेचारे मुरारी पर भी बिगड़ खड़ा हुआ। उसका वहाँ अकेला रहना उसे बुरा लगने लगा। अभी चूल्हा फूँकना था। उसने सोचा—आज भोजन न बनाया जाय तो कैसा है! मैं जाकर बाज़ार में खा आता हूँ। आयेंगे मुन्नाजी, जब भूखे पड़ेंगे तो सेज का सारा मज़ा भूल जायगा, या रात

में जब फूँ-फाँ करके जी जलाना पड़ेगा, तब उस पँचघण्टी आराम-तलबी का आनन्द याद आयगा। ....कैसा घुन्ना साँप है! वकील साहब ने छुट्टी देदी, तो भी टाइप लेकर बैठ गया। वकील साहब से कहलाना चाहता था न--बड़ा महनती है!

हेतराम यह सोच कर बाज़ार घूमने चल दिया।

साढ़े सात बजे घूम-धाम कर लौटा। मुरारी तब तक न आया था। ऊपर जाकर लैम्प जलाया, और खाट पर पड़कर कोई पुस्तक पढ़ने लगा।

इतने में किसी ने नीचे पुकारा—"मुरारी! हेतराम!" हेतराम ने नीचे आकर देखा—खचेड़ू-पण्डित खड़े हैं।

खचेड़ू-पण्डित हेतराम के गाँव के एक सजातीय जवान हैं।

खचेड़ू ने ऊपर आकर कुशल-प्रश्न के बाद पूछा—"मुरारी कहाँ है?"

हेतराम ने अपनी रामायण शुरू की—"मुरारी तो आजकल वकील साहब की लड़की के कृपा-पात्र बने हुए हैं। आज लाला की मामूली-सी नकसीर छूट गई। आप झट आईं और अपने कमरे में लेजा कर लिटा

दिया। ·············"

खचेड़ू ने सरसता से पूछा--"कितनी उमर है वकील साहब की लड़की की?"

हेतराम ने खचेड़ू की बात से असन्तुष्ट होकर कहा--"हिश्त्! कैसी बात करते हो! मेरी माँ से भी बड़ी है।······हाँ तो, आप ऊपर जाकर सेज पर पैर फैला कर ऐसे सोये कि तन-बदन की सुधि न रही, और उठे कब?--छः घण्टे बाद--जब वकील साहब कचहरी से आगये।"

"अर र र!" खचेड़ू ने कहा--"डाँटा होगा वकील साहब ने?"

हेतराम ने इधर-उधर करते हुए कहा--"डाँटा-डूँटा तो नहीं, नाराज़ अवश्य हुए। काम बहुत ज़रूरी था,--अतः उसे समाप्त करने को आप ठहर गये हैं।"

खचेड़ू ने कहा--"यह सहरदारी है भैया, यहाँ ऐसी लापर्वाही से कैसे काम बन सकता है! समझा देना उसे तुम--ज़रा मर्यादा में रहे।"

हेतराम बोला--"अजी! मेरी समझ मान सकता है वह! अपने को वह सदा से-ही दुनिया-से-उपरान्त बुद्धिमान समझता रहा है, और अब तो उस पर, एक

तरह से, खुद मालिक की कृपा-दृष्टि है; अब तो मेरी सीख ईर्ष्या-वश समझी जायगी।"

गाँव में हेतराम और मुरारी की मित्रता उदाहरण थी। खचेड़ू-पण्डित भी इनके अनन्य प्रशंसकों में से था। शहर में आता, तो प्रेम-वश दोनों से अवश्य मिलकर जाता। पर आज हेतराम की अश्रुत-पूर्व बातें सुन कर उसके हृदय का आदर-भाव—दोनों के प्रति—सरक कर भागने लगा। अतः उसने उस आदर-भाव को स्थित रखने के उद्देश्य से कहा—"वाह जी! मानेगा कैसे नहीं! सारे गाँव में तुम दोनों की दोस्ती की वाह-वाह हो रही है। लोग कहते हैं—'भाई-भाई को भी ऐसी नहीं बनती।' सच कहता हूँ भैया, मेरा खयाल है, दोस्त हों तो ऐसे हों! धन्य है! एक पेट से पैदा होने की कसर है, नहीं मैं तो तुम्हें राम-लछमन के औतार कहता।"

हेतराम की आँखें मानों सपना देखते-देखते पट-से खुल गईं। खचेड़ू की उपमा में कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं था, पर हेतराम पर इन थोड़े-से साधारण शब्दों का जो असाधारण प्रभाव पड़ा, उसे वही जान सकता था। मानों शराबियों की भीड़ में फँसे हुए उसे, अज्ञात भाव से धक्का मार कर बाहर निकाल दिया गया हो।

क्षण-भर के लिये उसका मुँह पीला पड़ गया। पर बड़ी चतुरता और शीघ्रता से उसने इस नये भाव को सटक कर, सम्हल कर, कहा—"सब ईश्वर की दया है भाई, इस जीवन में भगवान् हमारी इसी प्रकार निबाहे रहेंगे, ऐसी भावना हैं। अभी तक मुसीबत-ही भोगी है—देखें कभी सुख के दिन भी आते हैं या नहीं, और दोनों का निभाव होता है या नहीं।"

खचेड़ू का सरकता हुआ आदर-भाव ठहर गया, और उसने सन्तुष्ट होकर कहा—"निभाव कैसे नहीं होगा जी, सम्बन्ध जोड़ना-तोड़ना तुम्हारे हाथ थोड़ा-ही है, यह तो पुरबले-जनम के संसकार का फल है।"

हेतराम ने कहा—"देखो!"

कुछ देर ठहर कर खचेड़ू ने कहा—"क्यों भैया, कहीं घर बसाने का डौल भी लगा—नहीं?"

हेतराम ने हँस कर कहा—"अरे पण्डित! पागल हुए हो! व्यर्थ ब्याह के जाल में टाँग फँसाना कौन-सी अक़्लमन्दी है? दोनों आदमी मस्त रहते हैं—न किसी का लेना न देना। ब्याह करके फ़िज़ूल की धन-धन के सिवा होता-ही क्या है!"

खचेड़ू ने हेतराम की हँसी की उड़ान पर ध्यान

न देकर कहा—"ब्याह करना तो मनुष-मात्र का धरम है भैया, ब्याह न करके तो तुम परमात्मा से विस्वास-घात करोगे। हरेक पुरुष पर एक स्त्री के पालन-पोषण का भार लाजमी होता है। अगर कोई पुरुष ऐसा न करे तो उसे अपने धरम से गिरने का पाप लगता है। तुम्हारा खयाल गलत है भाई। लड़की कहो तो मैं कोसिस करूँ। तुम तो अपने बिरादरी-भाई हो; सरीर दूर हो गये तो क्या—दिल तो दूर नहीं हो सकते।

हेतराम, खचेड़ू की दलील, भूमिका और इच्छा सुन कर मन-ही-मन हँसा। असल में खचेड़ू अपनी छोटी बहन का हाथ हेतराम को पकड़ाना चाहता था। हेतराम उसका अभिप्राय समझता था। पर जीविकाका सन्तोष-जनक प्रबन्ध हो जाने के पहले विवाह न करने की दोनों मित्रों ने कड़ी शपथ खाई थी। उसने खचेड़ू से कहा—"बात यह है भाई, इस साधारण आमदनी में एक आदमी का खर्च-ही नहीं चलता; पराई-बेटी को लाकर क्या खिलाऊँगा? मैं ब्याह करके अपना जीवन संकट-मय नहीं बनाना चाहता।"

खचेड़ू ने कहा—"अरे भाई, पराई-बेटी का भी भाग है। सब अपने भाग का खाते हैं। तुम इसकी

चिन्ता क्यों करते हो? और ऐसा-ही है तो ब्याह करलो, गौना बरस दिन बाद सही।"

"यह सब व्यर्थ की बातें हैं; हेतराम ने ऊबकर साफ़ जवाब दे दिया—"मैं अभी चार-पाँच वर्ष ब्याह करना नहीं चाहता।"

खचेड़ू निराश हो गया। कुछ देर के साधारण वार्त्तालाप के बाद बोला—"अच्छा भाई, चलता हूँ, रात बढ़ती जा रही है, चार कोस जाना है। मुरारी तो अभी आया नही।"

हेतराम ने कहा—"ठहरो पण्डित, रात को यहीं ठहरो, मुरारी भी आता-ही होगा।"

खचेड़ू कुछ देर और ठहरा। पर मुरारी न आया—वह चला गया।

खचेड़ू चला गया, पर हेतराम के हृदय में एक स्थायी आन्दोलन की सृष्टि कर गया। उसके जाने के बाद हेतराम सोचने लगा—मेरा हृदय कैसा पागल है! कैसा दुष्ट है! लोग हमारी मित्रता को आदर्श कह कर हमारा गुणानुवाद कर रहे हैं, और मैं अपने चिर-सङ्गी के साथ ईर्ष्यालु-भाव रख रहा हूँ। हेतराम ने विचारा—उसने अपनी आत्मा को बहुत नीचे गिरा दिया है। बैठे—बैठे—

बैठे उसे अपने कर्म से घृणा बढ़ती गई। उठ कर इधर-उधर टहलने लगा। अनुताप से उसका हृदय जलने लगा, और आख़िरकार वह खाट पर पड़ कर आँसू बहाने लगा, और आप-ही-आप कहने लगा—"हे परमात्मा! मुझे क्षमा कर!" इसी समय मुरारी यदि उसके सामने आजाता तो अवश्य वह कोई अस्वाभाविक काम कर बैठता। एक बार उसने सोचा—वकील साहब के घर चलूँ। फिर घड़ी की तरफ़ देख कर कहा—"यह ठीक नहीं, नौ बज चुके हैं: आता-ही होगा।"

फिर उसके मन में अचानक कोई भाव पैदा हुआ। झपट कर उसने दियासलाई जलाई, आग सिलगाई और आटा गूँधा।

इतने में ज़ीने पर मुरारी की आवाज़ आई। हेतराम दौड़कर बाहर आया। एक बार उसकी अस्पष्ट मूर्ति को पहचाना, और तब दौड़ कर वह उससे लिपट गया, और आँसू बहाते हुए उसने ज़ोर से उसे चूम लिया।

मुरारी बड़ा हकबकाया। हेतराम के साथ वह कमरे में आया और दिलासा देते हुए बोला—"हुआ क्या भाई? बात क्या हुई?"

हेतराम ने हिचकी थाम कर कहा—"भाई मुरारी! मुझे क्षमा करो।"

"क्या है?" मुरारी ने चकित होकर पूछा—"कैसी क्षमा? किस बात की क्षमा माँगते हो?"

हेतराम ने रोते हुए कहा—"मुझे क्षमा करो, मैं बड़ा पापी हूँ!"

मुरारी कुछ न समझा। घबरा कर पूछने लगा—"आख़िर बात क्या है?—स्वस्थ होकर कहो।"

हेतराम उसी रोने स्वर में बोला—"मैं बड़ा मूर्ख हूँ मुरारी, धिक्कार है मुझे! जिस बात को मैं स्वयं न समझ सका, उसे एक मूर्ख ग्रामीण ने मुझे समझा दिया!!"

अचरज के मारे मुरारी का बुरा हाल था। उसकी समझ में कुछ न आरहा था। इसे हो क्या गया! कहीं पागल तो नहीं होगया! उसने कुछ भय-ग्रस्त स्वर में प्रश्न किया—"हेतराम! मुझे पहचानते हो?—मैं कौन हूँ?"

मुरारी की बात सुनकर हेतराम अचानक हँस पड़ा। फिर हँसी रोक कर बोला—"भाई, क्या बताऊँ, मैंने बड़ा अपराध किया है। मैं तुमसे उसकी हज़ार बार

क्षमा माँगता हूँ।"

हेतराम ने क्या अपराध किया है, और वह किस बात की क्षमा माँगना चहता है, सुन लेने पर मुरारी ठठा कर हँस पड़ा। बोला—"यह भी कुछ क्षमा माँगने की बात हुई? सावित्री से तुम्हें विरक्ति है; तुमने नौकर से उसकी बुराई करदी—मुझे तुमने क्या कहा? जो कहा भी—वह बिलकुल सत्य। सचमुच, यह नौकरी है—भाई-बन्दी थोड़ा ही।"

हेतराम ने आह मार कर कहा—"मगर भाई, यह अप्रिय-सत्य था, और इसे कहते हुए मेरे मनो-भाव पवित्र नहीं थे—अपनी इस कमज़ोरी को तो मैं-ही समझ सकता हूँ।"

मुरारी ने हेतराम मुँह पर एक प्यार का तमाँचा लगाया, और "पागल!" कह कर बात टालदी।

तब दोनों मित्र, अपने हाथ से भोजन बना, पेट-भर खा, हँसते-हँसते निद्रा-देवी की गोद में पहुँच गये।

तीन

कई दिन बाद वकील साहब ने मुरारी को ऊपर बुलाया। हेतराम ने पूछा—"क्यों बुलाते है ?"

मुरारी ने अनुमान-से कहा—"उस दिन मैंने तुम से ज़िक्र किया था न ?—शायद मेरे एफ़. ए. की परीक्षा देने के विषय में कुछ कहते हों।"

मुरारी चला गया। हेतराम टाइप करने लगा, पर उसका मन रह-रहकर उचाट होने लगा।

दस-पन्द्रह मिनट बाद मुरारी प्रफुल्ल-मुख नीचे आया।

हेतराम ने हँस कर पूछा—"कहो, क्या हुआ ?"

मुरारी ने मुस्कुरा कर कहा—"भला-ही होने की आशा है।"

हेतराम ने हँसते हुए कहा—"मुबारक हो! क्या कह रहे थे ?"

मुरारी ने टाइप-राइटर के सामने बैठकर 'कार्बन-पेपर सीधा करते हुए ज़रा रुक कर कहा—"बात तो कोई खास हुई नहीं, पर प्रकट ऐसा होता है, मानों मेरे भाग्य में थोड़ी विद्या और है।"

हेतराम ने अधिक उत्सुक होकर पूछा—"कोई खास बात नहीं हुई तो प्रकट कैसे होगया ?—क्या आँखों में बातें हुई थीं ?"

हेतराम यह कह कर हँस पड़ा।

मुरारी ने कागज़ टाइप-राइटर में लगा कर रोलर घुमाते हुए कहा—"कल बुलाया है, उसी वक़्त कुछ स्पष्ट कहेंगे।"

हेतराम को मुरारी की यह रुखाई ज़रा न रुची। मित्र के भाग्य-निर्माण में अनुराग प्रकट करके वह चाहता

था—मुरारी के मन में उसके-प्रति सद्भावना पैदा होजाय, और वह उसकी पहली कमज़ोरी को भूल जाय। पर मुरारी की प्रकट-रुखाई देखकर उसने सोचा—मुरारी के विचार उसके-प्रति अविश्वासी हैं; इस कारण वह अपनी निजी बात--जिसमें उसका लाभ है—उसे नहीं बताना चाहता। मुरारी की इस अवहेलना ने हेतराम की मानसिक-वृत्तियों में एक नया आन्दोलन खड़ा कर दिया!

पर मुरारी जिस संकटापन्न अवस्था में था, उसे वही समझता था। हेतराम से वह कुछ छिपाना भी नहीं चाहता था और वकील साहब के निषेध को भी नहीं भूलना चाहता था।

दिन-भर हेतराम ने मुरारी से कोई विशेष बात न की। मुरारी ने कभी कोई बात उठाने की कोशिश भी की—तो उसने लापर्वाही की हवा में वह उड़ा दी। मुरारी ने हेतराम के इस भाव पर लक्ष्य किया। उसकी रुखाई के कारण का अनुमान करके सब बात साफ़-साफ़ कह देने की कई बार इच्छा भी की, पर वकील साहब का निषेध उसे बार-बार रोक देता था।

आजकल मुरारी के नाइट-स्कूल की छुट्टी थी।

इससे दोनों दोस्त शाम को घूमने जाया करते थे। पर उस दिन हेतराम मुरारी के साथ घूमने न गया। खाट पर पड़ा, चिन्ता के झूले पर चढ़ा झकोरे खाने लगा, और मनोयोग-पूर्वक अपनी सारे दिन की मनस्थिति का अध्ययन करने लगा। और अध्ययन के बाद बड़बड़ाने लगा—"क्या सचमुच मुरारी मुझ पर अविश्वास करने लगा है? वकील साहब की बात बताने में उसने ऐसी उदासी क्यों दिखाई? जान पड़ता है, वकील साहब ने इसे आगे पढ़ाना स्वीकार कर लिया है। कह तो रहा था—'मालूम होता है, मेरे भाग्य में थोड़ी विद्या और है।' .....पर मुझे इससे क्या?—मुझे अपनी मनोवृत्तियों में विकार पैदा करना नहीं चाहिये। मुझे उससे ईर्ष्या करना उचित है?......मानव-हृदय कितना दुर्बल है! उस दिन मेरी क्या दशा थी, कैसा पश्चात्ताप था, आज क्या दशा है! कैसा परिवर्त्तन है!"

हेतराम सोचता-ही रहा—"परन्तु उसने क्या मुझे मित्र-भाव से देखा? मुझ पर विश्वास किया? मैं कैसे उत्साह और प्रेम के साथ प्रश्न करता था, और उसने कैसा अनखना कर उत्तर दिये। मेरी मनस्थिति में परिवर्त्तन करने वाला मैं नहीं, उसका

व्यवहार है। मैंने पूछा—'वकील साहब ने क्या कहा ?' आप जवाब देते हैं—'कहा—इस समय जाओ।' भला यह भी कोई कहने की बात है ? मुझ से ऐसा कपट रखेगा, इसकी तो आशा नहीं थी मुझे प्रसन्न करने के लिये और-और बातें तो बहुत-सी कीं, पर जब कभी इस विषय में ज़िक्र आया तो टाल दिया। शाम को घूमने अकेले-ही चला गया। कहा तो कई बार, पर मन में तो ले जाने की नहीं थी। मैं उसके मार्ग में क्यों रोड़ा बनता ? गया—जाय ! ... मालूम होता है, वकील साहब से-ही मिलने गया है।"

विचार-स्रोत ने कट कर रङ्ग बदला। हेतराम कागज़ की कत्तर दाँत से छेदते हुए पुनः चिन्ता-नदी में तैरने लगा—"पर मुझे उसके व्यवहार से रुष्ट क्यों होना चाहिये ? मेरी दुर्भावनायें स्मरण कर उसने मुझ पर अविश्वास किया तो कौन अपराध किया ? शायद उसे मेरे पश्चात्ताप पर विश्वास नहीं हुआ।......पर क्या मेरा पश्चात्ताप अविश्वस्त था ?—मेरी क्षमा-प्रार्थना हार्दिक न थी ? सचमुच मुझे अपने कु-कृत्य पर हार्दिक दुःख था। और कु-कृत्य को कोई ज़बर्दस्त अपराध थोड़ा-ही था ? ज़रा-सी देर को भावों में वैषम्य उपस्थित होगया था—

सो भी असल में सावित्री के कारण! ...हूँ! मैं अपने क्षुद्र भाव-वैषम्य पर इतना खिन्न होऊँ, और मुरारी मेरे इस भाव का यह बदला दे!"

हेतराम की विचार-शृङ्खला टूटी। उसके मस्तिष्क ने कुछ देर विश्राम किया। उसने फिर चिन्तन आरम्भ किया। विचारों का धुआँ पैदा होना शुरू हुआ। निश्चय-मे ये विचार मुरारी के अनुकूल होते—और पता नहीं ये विचार विशाल रूप धारण कर, घटना को कहाँ-को-कहाँ पहुँचा देते। पर खेद! हेतराम के विश्राम करते हुए मस्तिष्क पर इसी समय नींद ने पूरे ज़ोर के साथ आक्रमण किया और उसमें इकट्ठे मुरारी के पक्षपाती विचारों को उलट कर उसके विरुद्ध कर दिया, जिन्होंने स्वप्न में उपस्थित होकर हेतराम के रोष को बढ़ाने में सहायता दी।

मुरारी नौ-दस बजे लौटा। साथ में एफ़. ए. के कोर्स को दर्शन और अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धी दो पुस्तकें थीं। उस ने सोते हुए हेतराम को देखा। कुछ सोचा। फिर चुपचाप लैम्प उठाकर चौकी पर रखा और कपड़े उतार कर किताब पढ़ने बैठ गया।

वह चुपचाप पढ़ रहा था। हेतराम से उसे इस

समय भय-सा, संकोच-सा, रहस्य-सा अनुभव हो रहा था। कभी हेतराम की साँस तेज़ सुनाई पड़ती तो वह चौंक कर उसे देखता, कभी हेतराम करवट लेता तो वह उछल कर उसे ताकता, कभी उस की खाट चरमरा उठती तो वह उछल पड़ता। शायद वह हेतराम की सुख-निद्रा में बाधा न बनना चाहता हो!

वह बहुत रात तक पढ़ता रहा। पुस्तक का बहुत-सा अंश उसने देख डाला। उत्साह और आकांक्षा से उसका हृदय नाच उठा—पुस्तक उसे लगभग याद थी, तैयारी के लिये विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी। खाने की उसकी इच्छा-ही न होती थी। पर जब दूसरे दिन ड्यूटी पर जाने की याद आई तो उसने सोते हुए हेतराम पर एक उद्देश्य-हीन, स्नेह-पूर्ण दृष्टि फेंक कर वकील साहब के अनुकूल उत्तर देने की प्रार्थना करते हुए निद्रा-देवी से आलिङ्गन किया।

सुबह हेतराम उठा, तो भावों से भरा। मुरारी को सोते देख जल गया। "ऐसे मिज़ाज! रात को आकर चुपचाप सो भी गये; जगाया तक नहीं! हूँ! यह अभिमान! राजा रावण तक का घमण्ड ढल गया था, तू किस भाड़ का चना है, रे मूर्ख!"

हेतराम इन्हीं विचारों में डूबा हुआ, उठ कर नित्य-कर्म में लगा। पाख़ाने से निकला, तो मुरारी न उठा,—रात को दो बजे सोया था न—नहाकर निकला तो न उठा। सात बज रहे थे। हेतराम के मन में अचानक एक विचार उठा। उसने चुपके-से कपड़े पहने—बड़ी-ही सतर्कता से, और कमरे का दरवाज़ा भिड़काता हुआ बाहर निकल गया।

घूमता-घामता हेतराम एक-डेढ़ घण्टे पहले ड्यूटी पर पहुँच गया। सावित्री नीचे चौक में खड़ी थी। हेतराम सदा सावित्री से आँखें चुराता था और सामने पड़ने पर भी सिर नीचा कर बच निकलता था, आज उसने मुस्कुराकर आदरपूर्वक उसे नमस्कार किया। सावित्री ने भी हँस कर बड़प्पन से उसे आशीर्वाद दिया—या सिर हिला दिया—पता नहीं। फिर धीरे-से पूछा—"आज इतने सवेरे कैसे आ गये?"

हेतराम ने कहा—"आज एक ज़रूरी काम निबटाना है, इसी लिए ज़रा जल्दी चला आया हूँ।............"

हेतराम को आत्म-श्लाघा के लिये अधिक शब्द न मिले। सावित्री ने पूछा—"मुरारी कहाँ है?"

हेतराम ने इधर-उधर देख कर कहा—"घर पर रह

गया है !"

"घर पर रह गया है !" सावित्री ने हेतराम के शब्दों को भिन्न प्रकार से दुहराते हुए कहा—"ज़रूरी काम शायद उसे करना नहीं होगा ?"

हेतराम ने मुह बना कर कहा—"करना क्यों नहीं है ! पर वह तो अपने आप का बादशाह समझता है, नौकर थोड़ा-ही !!"

सावित्री ने पूछा—"क्यों, ऐसा कैसे ?"

हेतराम कुछ कहने को हुआ, फिर रुक कर बोला—"अब क्या कहूँ ?"

सावित्री ने उत्सुक होकर कहा—"फिर भी; क्या कहता था ?"

हेतराम ने फिर एक बार चारों तरफ़ देखा और बोला—"मैंने कहा—'मुरारी चलते हो ?' आप तुनुक कर उत्तर देते हैं—'वकील साहब ने मोल थोड़ा-ही ले लिया है हमको। समय पर जायँगे, समय पर आयँगे। यहाँ ऐसी तीस रुपल्ली की विशेष चिन्ता नहीं है।"

सावित्री ने कहा—"हूँ !"—और फिर चिन्ता-सी करती हुई बोली—"यह छोकरा ऐसा चुप-चोर है ! जिस पत्तल में खाय उसी में छेद करे !"

हेतराम घबराकर बोला—"देखिये, मैंने आप को अपनी पूज्य समझ कर यह सब-कुछ कह दिया है। आप कृपाकर—मेरे अनुरोध से—उसका यह अपराध क्षमा करें, और इस बात को अपने मन में-ही रखें, वकील साहब से न कहें। इतनी मेरे ऊपर दया करें।"

सावित्री ने कुछ अचरज-से पूछा—"क्यों? तुम क्यों डरते हो? बेफ़िक्र रहो, तुम पर आँच न आयगी—तुम्हारी नौकरी जाने का कुछ भय नहीं है।"

अब हेतराम ने कहना शुरू किया—"देखिये जी, आप यह तो जानती-ही हैं कि हमारा-मुरारी का बचपन का साथ है। अगर उसे यह मालूम होगया कि हमने उसकी नौकरी छुड़वा दी, तो ज़रूर आपस में आँखें बिगड़ेंगी।"

सावित्री ने कुछ सोच कर कहा—"लेकिन ऐसा आदमी नौकर रखने के क़ाबिल तो है नहीं। बाबूजी तो उस पर ऐसी दया करते हैं और वह यह बदला देता है!"

मुरारी ने कहा—"ख़ैर, अब की बार मेरे कहने से इस बात को गुप्त रखिये।............पर वकील साहब उसे कॉलेज में पढ़ाने का विचार कर रहे हैं न?"

सावित्री ने कहा—"कैसा पढ़ाना, रात तो बाबूजी कह रहे थे—'मुरारी इस वर्ष एफ़. ए की परीक्षा देगा।

मैं उसे कुछ आर्थिक सहायता दूँगा।' उन्हें यह तो पता नहीं—वह साँप को दूध पिला रहे हैं। उन्हें अवश्य उसकी वृत्तियों से परिचित कर देना चाहिये, जिससे कुपात्र के साथ अनुचित रिआयत न हो जाय।"

हेतराम का दुष्ट हृदय नाँचा। इस उपाय से सहज-हीं में मुरारी का अभिमान चूर्ण हो सकता था। उसने एक बार अपने उस उपाय की तरफ़ ग़ौर किया और दूसरी बार मुरारी के अभिमान के चूर्ण होने की तरफ़। पर उसका उपाय बिना गोली की पिस्तौल की तरह व्यर्थ-सा था। मुरारी पर लगाया हुआ उसका लाञ्छन निस्सार था। उसके वकील साहब पर प्रकट होने से मुरारी पर कोई विपत्ति तो आती-ही नहीं, साथ में शायद वह खुद-ही झमेले में पड़ जाता; मित्र से लज्जित होना पड़ता और शायद नौकरी से हाथ धोना पड़ता। वह उदास होगया। बोला—"नहीं मैं प्रार्थना करता हूँ; इस बार जाने दीजिये।"

सावित्री ने कहा—"अच्छा ख़ैर! मगर भई, धन्य है, तुम्हारी मित्रता को!"

अपनी मित्रता की प्रशंसा सुनकर हेतराम प्रसन्न नहीं हुआ। उसने हलकी-सी लज्जा का अनुभव किया।

इतने में जल्दी जल्दी मुरारी वहाँ आ पहुँचा, और हेत-राम को वहाँ देख, प्रसन्न होकर माथे का पसीना पोंछता हुआ बोला—"शुक्र है! मैं तो परेशान होगया! घण्टों बाट देखी, तुम्हारा कहीं पता-ही नहीं। फिर मैंने सोचा—शायद यहाँ चले आये हो। वाह भई वाह! बिना कहे-सुने चले आने की आज यह क्या सूझी?"

हेतराम िटपिटा-सा गया। चेहरा पीला पड़ गया। सावित्री मुरारी की बात को समझने की चेष्टा करने लगी। हेतराम अपना भेद खुलने के भय से—उद्वेग दबा कर—मुँह से कुछ न कह, मुरारी का हाथ पकड़े हुए जल्दी-से दफ़्तर में घुस गया।

दोनों अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गये और टाइप-राइटर की गर्द झाड़ने लगे।

थोड़ी देर बाद मुरारी ने पूछा—"क्यों भाई, आज हमें अकेले सोता छोड़ कर इतनी जल्दी क्यों भाग आये?"

हेतराम ने हँस कर कहा—"क्यों भाई, कल रात को आकर हमें बिना-जगाये सो कैसे गये थे?"

मुरारी ने हेतराम की ओर देखा, और फिर ज़ोर से हँसकर उसकी पीठ थपथपाते हुए अपने रात को चुप-चाप सो जाने का कारण बताने लगा।

चार

मुरारी की बात सुन कर हेतराम बड़ा पछताया। सोचने लगा—मैंने कैसी भारी भूल की! मेरे मनो-भावों में कितनी दुर्बलता आगई! बिना सोचे-विचारे सावित्री से ऐसी बात क्यों कही! आख़िर स्त्री-ही तो है, कहीं वकील साहब से कह न दे। उफ़! मैं कैसा मूर्ख हूँ! अब क्या करूँ? मुरारी से सब बात कह कर क्षमा माँग लूँ·········

उसके ओंठ खुले। पर फिर विचार की लहर दौड़ गई—पर कहीं इसके मन में मेरे-प्रति अब की बार घृणा पैदा न हो जाय। क्षमा और प्रायश्चित्त में तो पहली बार-ही महत्त्व होता है। और मैंने उसके विरुद्ध जैसा काम किया है—मुझे आशा नहीं—मुरारी उसे सुनकर मुझे हृदय-से क्षमा कर देगा। ना! ना! क्षमा? असम्भव।.........पर यह भी तो सम्भव है कि सावित्री मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वकील साहब से इस विषय में कुछ न कहे। फिर क्षमा माँगना और वह बात खोल कर मुरारी के हृदय में एक नये भाव की सृष्टि करना मूर्खता है।......अगर—मान लो—वकील साहब को पता-ही लग गया, और उन्होंने मुझे बुलाया-ही—इस विषय में पूछने के लिये—तो मैं साहस-पूर्वक अपना अपराध स्वीकार कर लूँगा—कर लूँगा।

मुरारी, हेतराम की निस्तब्धता का और-ही अर्थ लगा रहा था। जब हेतराम कुछ देर चुप बैठा रहा, तो उसने हँस कर—लापर्वाही-से—कहा—"तुम भी यार, अजब ख़ब्ती हो! ज़रा-ज़रा-सी बातों को पहाड़ बना लेते हो, और साफ़ हो जाने पर भी बरसों चिन्ता के झूले में चक्कर लगाया करते हो। कोई बात भी हो!

अरे भई, मैं तुम्हारे-बिना घूमने चला गया. तुम्हें जगाये-बिना सोगया, तुम बिना मुझ से कहे यहाँ चले आये—इसमें चिन्ता की कौन-सी बात है !"

हेतराम के जी में एक बार आया—सारी बात कह कर इसके चरणों पर गिर पड़ूँ। पर साहस न हुआ। फिर भी मुँह से निकल-ही गया—"मुरारी! मुझे बड़ा पश्चात्ताप है !"

मुरारी ने हेतराम की अन्तर्ध्वनि पर ध्यान न दिया और एक-दम उदार होकर बोला—"तुम्हारी अक़्ल तो ख़राब नहीं हुई है ? ऐसा कौन-सा अपराध कर बैठे हो, जिसके लिये 'बड़ा पश्चात्ताप' है ?"

हेतराम मित्र की सरलता और उदारता पर मुग्ध हो उठा। स्थिर दृष्टि से मुरारी को देखता हुआ कहने लगा—"धन्य है तुम्हें भाई ! तुम्हारे-जैसा मित्र पाकर मैं भी गौरव का अनुभव करता हूँ।"

हेतराम यह सुन कर काम में लगा। अचरज-भरा मुरारी उसकी बात ख़ाक न समझा।

इतने में संयोगवश सावित्री नीचे आई। हेतराम काँप-सा उठा। मुरारी ने सावित्री की तरफ़ देखा—मुस्कुराकर। सावित्री ने माथे पर बल डाल लिये और

घृणा-जनित भाव बना कर मुँह फेर लिया। गम्भीर मुरारी ने इसमें अपना घोर अपमान समझा। उसने एक बार पुनः सावित्री के दाँत पीसते हुए मुँह को देखा—और फिर क्षोभ से उत्पन्न हुए दोनों आँसुओं को मुँह फेर कर पोंछ डाला।

थोड़ी देर बाद वकील साहब ने मुरारी को बुलाया, और चार घण्टे ड्यूटी लेकर वही वेतन देने का निश्चय सुनाया। यूनिवर्सिटी की फ़ीस देना भी उन्होंने स्वीकार किया।

मुरारी के आनन्द का क्या ठिकाना था! भागा-भागा नीचे आया और हेतराम की कमर पर थप्पड़ मार कर बोला—"लो दोस्त, मुझे बधाई दो!"

हेतराम ने मुँह घुमाकर उदास हँसी हँसकर खूब संक्षेप में कहा—"बधाई!"

मुरारी बोला—"वकील साहब यूनिवर्सिटी की फ़ीस भी देंगे।"

हेतराम ने 'ओ' (O) टाइप का मैल साफ़ करते हुए कहा—"ठीक!"

मुरारी बोला—"चार घण्टे ड्यूटी देनी होगी!"

हेतराम ने उसी भाव से—धीमे स्वर से कहा—

"ठीक !"

मुरारी कहने लगा—"वेतन यही मिलेगा।"

हेतराम ने मैल उड़ाने के लिये फूँक मारते हुए मानो यह बात सुनी-ही नहीं।

मुरारी इस समय बात करने को जितना अधिक उत्सुक होता जाता था, हेतराम सुनने को उतना-ही कम ! और हेतराम बात सुनने के लिए जितना कम उत्सुक होता जाता था, मुरारी सुनाने के लिए उतना-ही ज़्यादा। उसने अब हेतराम की गम्भीरता पर ध्यान दिया। कुछ क्षण को चुप हुआ, फिर एक-दम ज़ोर से उसका कन्धा हिलाकर बोला—"क्योंजी, बादशाह सलामत ! आज क्या कान और मुँह—दोनों-ही मँहगे हो गये गये हैं ?"

अब हेतराम की गम्भीरता बनी न रह सकी। ठठाकर हँस पड़ा। फिर मुरारी को बैठने का संकेत करते हुआ बोला—"अरे भाई, इतने झुँझलाते क्यों हो, नाराज़ क्यों होते हो ?—हाँ तो, तुम इस वर्ष एफ़. ए. की परीक्षा में बैठोगे ?"

मुरारी ने कुर्सी पर बैठ कर खुश होकर कहा—"हाँ, हिम्मत तो करूँगा-ही; देखें, भाग्यमें क्या लिखा है?"

हेतराम ने पूछा—"फ़ीस वकील साहब भेज देंगे ?'

"हाँ;" मुरारी कहने लगा—"और सिर्फ़ चार घण्टे ड्यूटी लेकर यही वेतन भी देंगे।"

"यह मैंने सुन लिया" हेतराम ने कुछ सोचकर कहा—"पर यार, एक बात है।"

"क्या ?"

"फ़ीस के रुपये वकील साहब से न लो। इतनी दया करते हैं, यही काफ़ी है, कि चार घण्टे काम लेकर पूरे दिन का वेतन देंगे········"

"पर मेरे पास तो कुछ भी नहीं है," मुरारी निराश आतुरता-से बोला—"तुम्हें पता-ही है मेरी आमदनी और ख़र्च का।"

हेतराम ने कहा—"देखो, मेरे कई सौ रुपये डाकख़ाने में जमा हैं। फ़ीस के तो तीस-पैंतीस-ही जाएँगे, क्यों व्यर्थ वकील साहब का भार बढ़ा रहे हो ? जितना करने में तुम शक्य हो, उतना तो करना चाहिये।"

मुरारी के पिता ने कुछ रुपया ऋण लिया था। वे आजीवन उस ऋण को चुका न सके। मुरारी अपना कर्त्तव्य समझ कर उस ऋण को २०) महीने की क़िस्त-द्वारा उतार रहा था। इस लिए उसके पास कुछ नहीं

था । अस्तु—

हेतराम ने पूरी सहानुभूति और सच्चे दिल से यह बात कही थी। मित्र का त्याग और स्नेह देख कर मुरारी खिल उठा—प्रसन्न हो उठा । उसने आभार मानते हुए कहा—"तुम्हें धन्य है ! मैं खुशी से तुम्हारी कृपा-दृष्टि का लाभ उठाता, यदि तुम ने पहले यह कहा होता। वकील साहब की किसी भी सहायता से इस समय इनकार करना उन की रुष्टता का कारण हो सकता है। तुम्हारी इस कृपा के लिये मैं तुम्हारा आभारी हूँ।"

हेतराम के हृदय का बोझ हट-सा गया, और उसने वास्तविक आनन्द का अनुभव किया।

दूसरे दिन मुरारी और सावित्री का सामना हुआ, तो मुरारी ने मुँह फेर लिया। सावित्री का रुख पहले ही फिर चुका था, पर वह इस अवस्था में भी मुरारी के प्रणाम करने की बाट देख रही थी। अतएव प्रणाम करने के स्थान पर उसका यह विरक्त भाव सावित्री के स्त्री-हृदय में क्रोधानल भड़काने को काफ़ी था। अपने टुकड़े पर पलने वाले तुच्छ नौकर का—जिस पर उसके पिता इतनी दया-दृष्टि रख रहे हैं, और कुछ अंशों में जिसका कारण वह अपने आपको भी समझ रही है,—

यह अपमान-पूर्ण व्यवहार उसे असह्य था। खाली-हाथ की अपेक्षा स-शस्त्र होने पर शत्रु पर अधिक क्रोध उपजता है। सावित्री के पास—मुरारी पर चलाने के लिये—एक शस्त्र था—हेतराम की बताई हुई बात! कल से वह बात उसके हृदय में दर्द पैदा कर रही थी। सावित्री ने उसे हज़म करने के बजाय मुँह के रास्ते निकाल डालने में अब कोई अनौचित्य न देखा।

एक दिन सन्ध्या-समय वकील साहब छत पर आराम-कुर्सी पर लेटे अख़बार पढ़ रहे थे। मौक़ा पाकर सावित्री वहाँ पहुँची। बैठ गई। एक-दम बात चलाने का शायद साहस न हुआ। बोली—"कोई नई ख़बर है?"

सावित्री की ख़बर जानने की इस अभूत-पूर्व इच्छा ने एक बार वकील साहब को चौंका दिया। पर फिर साधारण भाव से कहने लगे—"ख़बर क्या—व्यर्थ की हुल्लड़-बाज़ी है। लोग व्यर्थ स्वराज्य-स्वराज्य चिल्ला रहे हैं, स्वयं-सेवकों की सेना तैयार कर रहे हैं, ज़ोर-शोर के साथ आन्दोलन कर रहे हैं, पर भला पाशविक बल के सामने ये हवाई गोले सफलता दिला सकते हैं। जिन्होंने तलवार के बल से भारत को जीता है, वे भला

तलवार की धार और रक्त की लाली के सिवा अन्य किसी वस्तु से डर सकते हैं? आजकल सारे अख़बार ऐसी-ही ख़बरों से भरे रहते हैं—आज यहाँ सभा हुई, आज वहाँ विलायती कपड़े की होली हुई। भला यह निस्सार आन्दोलन इस टुकड़खोर सरकार को मनो-वृत्ति बदल सकता है? गिने-चुने—मुट्ठी-भर—पढ़े-लिखे लोगों का आन्दोलन है; इससे होना क्या है!!"

सावित्री को यदि इतने बड़े उत्तर की आशा होती तो शायद वह यह प्रश्न न करती। वकील साहब के इस भाषण से वह घबरा-सी उठी, और मौक़ा पाते-ही—वकील साहब की बात लगभग बीच में काट कर—कहने लगी—"और पढ़े-लिखे भी तो आजकल के किसी काम के नहीं होते। सिर्फ़ बी. ए.—एम. ए. की डिगरी पा लेना-ही तो विद्वत्ता नहीं है। आजकल तो लोगों को डिगरी प्राप्त करने का रोग होगया है—रोग।"

वकील साहब को बेटी की बात न जँची। जम्हाई लेकर कहने लगे—"नहीं, ऐसा तो नहीं है। पढ़े-लिखे लोगों में तो अपनी स्थिति समझने की कुछ-कुछ योग्यता आने लगी है।"

सावित्री ने ढकेल कर अपनी बात को रास्ते पर

लाते हुए एक व्यर्थ-सा वाक्य कहा—"यह ठीक है, पर, पढ़ना-लिखना भी तो उन्हें-ही अच्छा लगता है, जो इसके योग्य हों।·········हाँ! जैसे यह आपका 'टाइपिस्ट'-ही है—मुरारी।"

वकील साहब बोले—"यह बात नहीं जी, पढ़ना-लिखना सब को उचित है, पढ़ने-लिखने के योग्य सभी हैं। मुरारी तो वास्तव में एक होनहार लड़का है। ईश्वर इसकी उम्र बढ़ाये, इसका व्यक्तित्व असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न होगा।"

टटोलते-टटोलते मानो इतना देर बाद सावित्री ने पैर में गढ़ा हुआ काँटा पाया। कहने लगी—"बात यह है बाबूजी, संसार के स्वार्थी हृदय से आप परिचित नहीं हैं। आप स्वयं भोले हैं—सज्जन हैं, इससे सारे संसार को भोला और सज्जन समझ लेते हैं।"

पुत्री की भूमिका ने वकील साहब के हृदय में उत्सुकता उत्पन्न करदी। उन्हों ने पूछा—"यह कैसे? समझ में नहीं आया।"

सावित्री ने कुछ क्षण ठहर कर वकील साहब की उत्सुकता को बढ़ने का अवसर दिया। फिर गम्भीरता-पूर्वक कहने लगी—"यह मुरारी-ही है। आप इस पर

ऐसा घोर विश्वास कर बैठे—बिना सोचे-विचारे, और असल में यह जेब की छुरी है, घुन्ना साँप है !!"

मुरारी के लिये ऐसे घृणित विशेषण सुनकर वकील साहब कुछ अप्रतिभ हो उठे—कुछ विरक्त-से हुए—पर गम्भीर उन्होंने अपना भाव छिपा कर—उद्वेग रोक कर पूछा—"क्या हुआ ? क्या दोष देख लिया अचानक ?"

'अचानक'-शब्द में जो व्यङ्ग छिपा हुआ था—सावित्री उसे न समझ सकी या समझ कर भी ध्यान न दिया। कहने लगी—"आप इस पर इतनी दया दिखा रहे हैं और यह आप को कुछ समझता-ही नहीं—अपने आप को पता नहीं बादशाह समझता है या क्या समझता है !..............।"

वकील साहब की भृकुटि चढ़ी हुई देख सावित्री ने एक-ही सिलसिले में रुख़ पलट कर कहा – "मैं यह नहीं कहती कि आप किसी पर दया-दृष्टि न रखें, किसी ग़रीब का भला न करें, पर दया भी तो ऐसे आदमी पर करनी चाहिये, जो सुपात्र हो;—कुपात्र पर दया करना तो मेरे विचार से पाप है।"

वकील साहब बेटी की बात से कुछ खुश नहीं हुए

थे, पर उत्सुक थे—उस बात को जानने के लिये, जिस-की वह भूमिका बाँध रही थी। कहने लगे—"क्या हुआ?—जो मुरारी से तुम एक-दम ऐसी बिगड़ खड़ी हुई?"

सावित्री ने रुकते-रुकते कहना शुरू किया—"यह लड़का—मुरारी—असल में बड़ा अंहकारी है। उसका साथी—हेतराम—ही एक दिन मुझ से कह रहा था। कोई ज़रूरी काम था, यह वक़्त से ज़रा पहिले चला, तो मुरारी कहने लगा—'अभी से क्यों जाते हो जी? किसी की ख़ैरात थोड़ा-ही खाते हैं, महीना-भर महनत करते हैं, तब तीस रुपल्ली मिलती हैं, समय पर जायँगे, समय पर आयँगे।' पर हेतराम चला आया और आप पैंठूसिंह रह गये—वहीं नौ-दस बजे आये। बताइये··· ·····।"

वकील साहब को बेटी की बात कुछ सन्देह-पूर्ण जान पड़ी, तो भी बात काट कर जल्दी-से बोले—"कितने दिन की बात है यह?"

सावित्री ने कहा—"अभी-अभी!—कल का ज़िक्र है।"

"अच्छा!" कह कर वकील साहब विचार में पड़

गये। एक बार उनके मन में भाव उठा—मुरारी को बुला कर सत्यासत्य का निर्णय करलें फिर सोचा—कहीं सावित्री रुष्ट न हो, कि मैंने उसका विश्वास नहीं किया। फिर विचार आया—सावित्री के रुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। हो सकता है, यह सच्ची हो, हेतराम ने-ही गप्प हाँकी हो, या सचमुच मुरारी ने ऐसा कह दिया हो। कौन आश्चर्य है ?

वकील साहब ने नीचे नौकर भेजकर मालूम किया, हेतराम और मुरारी चले गये थे। फिर सावित्री से बोले—"क्या हेतराम ने ठीक यही शब्द कहे थे ?"

सावित्री ने सोत्साह कहा—"हाँजी ! मैं आपके मुँह पर कहला दूँगी–अगर आप मेरा विश्वास न करें तो।"

वकील साहब चिन्ता में लीन हो गये। सावित्री ने मुरारी के प्रति उनकी विरक्ति को गाढ़ा करने की नीयत से कई बार बात उठाने की कोशिश की पर वकील साहब केवल "हूँ-हाँ" के सिवा कुछ उत्तर न दे सके। अँधेरा बढ़ रहा था। सावित्री पिता को वहीं बैठा छोड़ नीचे चली गई।

घण्टे-भर बाद वकील साहब ने बेटी को ऊपर बुलाया और कहने लगे—"सावित्री ! तुमने जो बात

कही—मैं उसे बिल्कुल सच माने लेता हूँ। पर इतनी बात मुरारी के हृदय का यथार्थ परिचय नहीं दे सकती। मैं 'रीज़नेबिल' (युक्ति-सङ्गत) आदमी हूँ,—पूरा प्रमाण पाये-बिना अपने विचार नहीं बदलूँगा। जो एक बार ऐसे शब्द कह चुका है, वह दूसरी और तीसरी बार वैसे या उससे भी बुरे शब्द अवश्य कहेगा। तभी मैं अपना विचार बदलूँगा। और अगर वह भविष्य में ऐसी कोई बात मुँह से न निकाले तो उसकी सिर्फ़ यह बात क्षन्तव्य है। देखता हूँ, मैंने इस युवक को समझने में कहाँ तक भूल की है, और मेरी भूल का बड़े-से-बड़ा और अधिक-से-अधिक क्या प्रमाण मिलता है।"

पिता का यह उदार निर्णय सावित्री ने सुना, और अगले दिन से वह उनकी भूल का बड़ा और अधिक प्रमाण ढूँढ़ने में लगी।

पाँच

पाँच दिन बीत गये। सावित्री नित्य हेतराम से बात करने का मौक़ा ढूँढ़ती, पर रोज़ वह आँख बचा कर निकल जाता।

इस सप्ताह में हेतराम ने अपने मन से घोर युद्ध ठान रखा था। अपने मानसिक विद्रोह को देखकर वह बड़ा दुखी था। अपनी मनो-वृत्ति बार-बार मित्र के विरुद्ध हो जाती देख, वह अपने विवेक की दुर्बलता को

जान गया था। इस बार सात दिन बराबर पश्चात्ताप की आग में तपते रहने पर भी उसे अपनी सद्वृत्तियों के बल पर विश्वास न हुआ। घोर त्याग करके भी उसने अपने मनोभावों को अधिकार में रखने और मित्रता की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की। और इस प्रतिज्ञा के निबाह के लिये उसने इस दूषित रङ्ग-भूमि से हट जाने का निश्चय किया। और सातवें दिन उसने अपना निश्चय मुरारी पर भी प्रकट कर दिया—कि वह अपना स्वास्थ्य सुधारने दो महीने के लिये गाँव जायगा।

मुरारी उसे कई दिन से चिन्ता-ग्रस्त देख रहा था। उसका निश्चय सुन उसने रोग-ही को उसकी चिन्ता का कारण समझा, और शीघ्र आने का वायदा कराकर उसे गाँव जाने की अनुमति दे दी। हेतराम ने वकील साहब से दो मास की छुट्टी माँगी।

उधर वकील साहब का काम—जिसे पूरा करने के लिये ये दोनों नौकर रखे गये थे—लगभग समाप्त हो चुका था। पर मुरारी पर उनका मूक स्नेह बहुत बढ़ गया था। और उसके भविष्य जीवन में बड़ा परिवर्त्तन डालने की वे इच्छा कर रहे थे। मुरारी के प्रति उनके

हृदय में जिस गाढ़ प्रेम का प्रादुर्भाव हो आया था, उसके कारण वे हेतराम को भी जवाब देते सकुचाते थे। बहुत सोच-विचार कर उन्होंने हेतराम को अपने एक वकील-मित्र के यहाँ जगह दिलाने का प्रबन्ध किया। इतने में-ही उन्हें हेतराम की दख़्वास्त मिली—दो महीने की छुट्टियों के लिये। अतः उन्होंने उसे स्वीकार कर लेने का निश्चय लिया।

उस दिन हेतराम पर घोर गम्भीरता और उदासी की छाप लगी हुई थी। चेहरा काला पड़ गया था, ओठ सूख गये थे, और आँखें लाल हो रही थीं—मानों बहुत देर तक रोया हो। मुरारी ने चिन्तित होकर कारण पूछा तो उसने अप्रिय हँसी हँसकर कहा—"इसी के प्रतिकार के लिये तो गाँव जा रहा हूँ!"

मुरारी समझा—अस्वस्थता के कारण-ही इसकी ऐसी व्यस्त अवस्था है। अतएव चुप होगया।

वकील साहब ने हेतराम को बुला कर पूछा—"क्यों जाना चाहते हो?"

हेतराम ने आवेग के आँसुओं को पीकर धीमे स्वर में कहा—"साहब, मेरा स्वास्थ्य ख़राब है।"

वकील साहब ने कहा—"क्या बात है? यहाँ किसी

डॉक्टर का इलाज करो।"

हेतराम का कण्ठ-स्वर कुछ विकल-सा हो उठा। बोला—"जनाब, यहाँ मेरा इलाज नहीं हो सकता। मैं बाहर जाना चाहता हूँ।"

हेतराम ने फुर्ती से सिर घुमा कर आँसुओं की दो बूँदें पोंछ लीं।

वकील साहब से उसका भाव छिपा न रहा। चकित होकर—सहानुभूति-पूर्ण स्वर में—पूछने लगे—"क्या बात हुई, भई? तुम्हारा ऐसा भाव क्यों है?"

हेतराम आँखें झुकाये चुप खड़ा रहा।

वकील साहब ने अधिक उत्सुक होकर पूछा—"अरे! हेतराम, क्या हुआ तुम्हें?"

हेतराम ने तब भी कोई उत्तर न दिया।

वकील साहब ने कुछ ज़ोर से पूछा—"हेतराम, क्या है? जवाब क्यों नहीं देते?"

हेतराम ने रूमाल से आँखें पोंछते हुए एक काग़ज़ वकील साहब के सामने रख दिया, और कहा—"अगर आप छुट्टी न देना चाहें तो मेरा इस्तीफ़ा स्वीकार करें।"

यह कह कर उसने वकील साहब को प्रणाम किया और कमरे से बाहर हो गया।

वकील साहब दस मिनट तक इसी विषय में सोचते रहे। हेतराम का भाव उनके लिये एक समस्या थी। उन्हों ने किसी सन्तोष-जनक नतीजे पर न पहुँच कर मुरारी को बुलवाया। आने पर पूछा—"हेतराम है—गया?"

मुरारी ने चिन्तित होकर कहा—"गया। पता नहीं, क्या रोग है—तीन-चार दिन में-ही बेचारे का चेहरा बिगड़ गया। इस इतवार को मैं गाँव जाऊँगा।"

तब वकील साहब ने सब बात मुरारी से कही, और इस्तीफ़ा दिखाया।

मुरारी दहल गया। इस्तीफ़ा देखकर और घबरा कर वकील साहब से बोला—"यह तो बड़ी विचित्र बात है! आप आज्ञा दें, मैं दौड़ कर घर जाता हूँ। न मालूम क्या भेद है! किस कारण उसकी यह दशा हुई है!"

वकील साहब की आज्ञा पाकर मुरारी अपने कोठे की तरफ़ दौड़ चला।

इधर हेतराम वकील साहब को प्रणाम कर नीचे आया, और आधी मिनट में मुरारी से विदा लेकर घर के बाहर हुआ।

सदर दर्वाज़े से लगे बरामदे में सावित्री खड़ी थी। हेतराम ने उसकी ओर देखा और मुँह फेर लिया। सावित्री ने उसी क्षण पुकारा—"हेतराम!"

हेतराम ने उसकी तरफ़ आँखें उठाईं। कुछ सोचा, ठहर गया। सावित्री ने समीप आकर यथा-साध्य कोमल स्वर में पूछा—"आज इस वक़्त कहाँ चले?"

हेतराम कोई कड़ा उत्तर देना चाहता था। पर रुक गया। नीचा मुँह कर, माथे पर बल डाल कर बोला—"मैं गाँव जा रहा हूँ।"

सावित्री ने पूछा—"कोई काम है क्या?"

हेतराम ने उदासी-से कहा—"शहरमें मेरा स्वास्थ्य ख़राब हो गया है। मैंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया है। कुछ दिन गाँव में रहूँगा।"

"गाँव में रहोगे?" सावित्री ने कुछ चौंक कर कहा—"वहाँ क्या करोगे? इस्तीफ़ा क्यों दे दिया?"

हेतराम अनमना होकर बोला—"शहर से मेरा जी भी उचट गया है।"—कह कर वह जाने को तैयार हुआ।

सावित्री ने पास होकर धीरे-से कहा—"क्यों खीर-भरी थाली में लात मारते हो!"

हेतराम ने पूरी आँखें खोलकर सावित्री को ताका। इस ताकने में जिज्ञासा थी।

सावित्री कहने लगी—"बाबूजी की आदत तुम जानते-ही हो, जो इनसे ज़रा प्रेम करे, ये उसके लिए मर मिटने को तैयार हो जाते हैं! तुम्हारा साथी—मुरारी—इनके पेट में घुस बैठा है। पर तुम भी जानते हो, मैं भी जानती हूँ, यह कुपात्र है, आस्तीन का साँप है, इसके साथ ज़रा भी दया न करनी चाहिये। तुम यहाँ से हटकर क्यों इस दुष्ट के सहायक बनते हो?"

हेतराम ने सावित्री की बात सुनी। चुप खड़ा रहा।

सावित्री ने हेतराम के मानसिक तूफ़ान को न देखा, न उसके भावों को समझा। कहने लगी—"देखो हेतराम, अगर यहाँ बने रहोगे और बाबूजी को खुश करने की कोशिश करोगे, तो इस पापी मुरारी की दाल न गलने पायेगी, और कोशिश करने पर—जो सुयोग इसे प्राप्त हुए हैं—तुम्हें भी हो सकते हैं। मेरी समझ में तुम्हें यहाँ से जाना नहीं चाहिये। तकलीफ़-आराम तो लगा-ही रहता है। हमारे वैद्यजी को कल दिखा देना, दो-चार दिन में तबियत ठीक हो जायगी।"

हेतराम अब ज़ब्त न कर सका। सुर्ख़ चेहरा

एकाएक ज़ोर से एक थप्पड़ ननुआ के मुँह पर लगाया।

ऊपर उठा कर कड़क कर बोला—"मुझ से यह बात कहते आप को शर्म आनी चाहिये! खुद पिता का धन चुराकर जैसा पाप कमा रही हो, मित्र से विश्वासघात कराकर मुझ से भी वैसा पाप कराना चाहती हो। बस मुझे........"

हेतराम आगे न बोल सका। सावित्री का मुँह पीला पड़ गया, शरीर थरथराने लगा, और वह एक क़दम पीछे हटकर, डरी-सी हेतराम का मुँह ताकने लगी।

हेतराम ने घृणा-पूर्ण दृष्टि से उसे देखा और फिर लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ चल पड़ा। अपमानित होकर सावित्री हारी-सी भीतर चली गई।

हेतराम मुश्किल-से बीस क़दम चला होगा कि एक तरफ़ से हँसते हुए ननुआ और धनीराम पाण्डे निकल आये। ननुआ ने हेतराम की पीठ ठोंक कर कहा,—"वाह वा! खूब किया! शाबास! इसकी आदत इसी तरह सुधरेगी। वाह वा, वाह!"

धनीराम ने कहा—"जनेऊ की सौगन्ध, अब यह नौकरों को तङ्ग न करेगी।"

हेतराम ने उन्मत्त नेत्रों से दोनों को घूरा। फिर एकाएक ज़ोर से एक थप्पड़ ननुआ के मुँह पर लगाया।

पैर पटक कर गर्ज कर कहा—"दुष्ट……!"—और फिर वह खूब तेज़ी से वहाँ से चल पड़ा।

+ + + +

मुरारी दौड़ता हुआ कोठे पर पहुँचा। कमरे का ताला बन्द था और वहाँ कोई न था। नीचे हलवाई से पूछने पर ज्ञात हुआ—हेतराम जल्दी-जल्दी घबराया-सा वहाँ आया और अपना ट्रङ्क लेकर उसी तेज़ी-से वापिस चला गया। कहाँ गया—इसका पता नहीं।

मुरारी ने आधी मिनट इस बात पर विचार किया। फिर वह खूब तेज़ी से उस तरफ़ चला, जिधर से उसके गाँव को रास्ता जाता था।

वह शहर से बाहर होगया। गाँव को जाने वाली जंगली कच्ची राह पर खड़े होकर उसने वहाँ तक नज़र फेंकी, जहाँ सड़क घूम गई थी, और जिससे आगे उसकी निगाह काम न करती थी। फिर उसने कुछ दूर दौड़ कर हेतराम को देख आने का निश्चय किया। —और यदि वह न मिला तो, तब मुरारी का विचार शहर के दोनों स्टेशनों पर हेतराम की खोज करने का था।

रूमाल मुँह में देकर मोड़ तक दौड़ गया और ज़ोर-ज़ोर से साँस लेते दिसम्बर की मीठी धूप में

माथे पर हाथ रखकर सूरज की चौंध बचाते हुए दूर-दूर तक देखा।

पर उसकी निगाह धूल-भरे मार्ग, झुलसे हुए पेड़ों और अध-हरी घास पर भटक कर लौट आई। हेतराम उसे कहीं दिखाई न पड़ा।

मुरारी निराश हो गया। पास-ही एक झाऊ का पेड़ था। गर्मी और उद्वेग से घबड़ा कर वह दम लेने के लिये उसके नीचे चला गया--।

रूमाल से गर्द-भरे मुँह का पसीना पोंछते हुए उसने मन-ही-मन उसी समय दोनों स्टेशनों पर जाने और हेतराम की खोज करने की कल्पना कर ली।

झाऊ के पेड़ के नीचे बैठकर ठण्डी हवा लगने से उसने कुछ शान्ति-लाभ किया। परेशानी कुछ घटी और वह स्टेशन पर जाने का तैयार हो गया।

पन्द्रह-बीस मिनट बाद-ही वह बड़े स्टेशन पर पहुँच गया। मुसाफ़िरख़ाना, प्लैटफ़ार्म और जाने के लिये तैयार गाड़ियों के सारे ख़ाने उसने देख डाले, पर हेतराम कहीं दिखाई न दिया। बड़ा व्याकुल हुआ। टिकट-कलेक्टर से पूछा तो कुछ पता न चला, दस-बीस कुलियों से पूछा तो कोई काम की बात मालूम न हुई,

अनेक यात्रियों से पूछ-ताछ की, तो भी कोई सन्तोष-जनक सूत नहीं मिला। अब वह भग्न-हृदय लेकर, निराश होकर स्टेशन से बाहर हुआ। हेतराम के पता चलने की अब उसे क़तई आशा न रही थी। स्टेशन से बाहर आकर वह अपने आप को रोक न सका, और उसकी आँखों में झर-झर आँसू बहने लगे।

फिर उसने आँसू पोंछ कर छोटे स्टेशन की तरफ रुख़ किया। पर वहाँ हेतराम का पता मिलने की उसे नहीं-के-बराबर आशा थी। क्योंकि जंक्शन की-ही सब गाड़ियाँ वहाँ जाती थीं। सिर्फ़ चालीस मील लम्बी एक छोटी-सी ब्राञ्च-लाइन वहाँ से शुरू होती थी।

स्टेशन पर पहुँचा। ब्राञ्च-लाइन छूट चुकी थी। मुरारी ने अनुसन्धान शुरू किया। टिकट बाँटने वाले बाबू से कुछ पता न चला। तब उसने कुलियों से पूछना शुरू किया। एक कुली की बात सुन कर वह अचानक उछल पड़ा। उसने बताया—"एक बाबू धोती और काले कपड़े का कोट पहिने, ट्रङ्क हाथ में उठाये, घबड़ाये-से वहाँ पहुँचे। गाड़ी तैयार थी। ट्रङ्क मैंने हाथ में उठाया और दौड़ कर उन्हें गाड़ी में चढ़ाया। टिकट के लिये पूछा तो कहा—'तुम चलो, सब देखा जायगा।' उनके

चढ़ते-ही चेकर वहाँ आ गया। उन्होंने पता नहीं क्या कहा कि वह उन से हाथ मिला कर दूसरे डब्बे में चढ़ गया।

कुली का बताया हुआ हुलिया हेतराम से मिलता था। मुरारी को धीरज बँधा। स्टेशन-मास्टर से पूछा तो तो पता लगा, दूसरी गाड़ी अगले दिन इसी वक्त जायगी। थोड़ी देर इधर-उधर घूम-फिर कर मुरारी वापिस वकील साहब के घर को चला।

वकील साहब कचहरी चले गये थे। मुरारी उस दिन काम न कर सका। सारे दिन सिर पर हाथ रखे हेतराम के विषय में सोचता रहा।

वकील साहब ने शाम को आकर सब बात सुनी। उनकी समझ में भी कुछ न आया। मुरारी ने हेतराम की खोज में जाने के लिये उनसे एक दिन की छुट्टी ली।

दूसरे दिन सुबह नौ बजे-ही डाकिये ने आवाज़ लगाई। मुरारी दौड़ कर कोठे के नीचे आया। पिछले दो-तीन वर्षों में मुरारी ने यह पहली चिट्ठी पाई थी। लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते-ही वह उछल पड़ा। पता उसके परिचित हेतराम के हाथ का लिखा हुआ था।

उसने तेज़ी-से लिफ़ाफ़ा फाड़ डाला। पत्र में लिखा था:—

असग़रपुर
(प. डी. रेलवे)
२६–१२—……

भैया मुरारी!

उद्वेग के कारण अधिक नहीं लिख सकता हूँ। केवल तुम्हें सूचित करने के लिये-ही यह संक्षिप्त पत्र लिख रहा हूँ। जिन दिनों हम दोनों बेकार थे—दोनों ने रेलवे-पार्सल-क्लर्की के लिये दर्ख्वास्त दी थी। एक सप्ताह हुआ—भाग्य-से मेरे लिये मन्ज़ूरी आगई और मुझे छोटे लाइन के इस स्टेशन (असग़रपुर) पर आने की आज्ञा हुई। अतः, मैं तुम से गाँव जाने का बहाना कर यहाँ चला आया हूँ और तीन-चार दिन बाद चार्ज लेकर काम शुरू कर दूँगा। किसी कारण से मैंने यही उचित और आवश्यक समझा। क्यों उचित और आवश्यक समझा, यह फिर कभी लिखूँगा।

तुम्हारा अभागा मित्र
—हेतराम, (असि० पार्सल क्लर्क)

मुरारी बार-बार पत्र पढ़ता था और इस गोरख-धन्धे पर विचार करता जाता था।

छः

[नीचे कुछ ऐसे पत्र अंशतः उद्धृत किये जाते हैं, जो मुरारी ने समय-समय पर हेतराम को लिखे थे, और मौका आने पर—आगे—जो हेतराम ने एक बार वकील साहब को दिखाये थे।]

१-१-.........

भाई हेतराम,

तुम्हारे-बिना सब सूना-सूना दीखता है। मैं तुम्हारे

पास गया, तुमसे लौट आने की प्रार्थना की, पर तुमने वापिस आना स्वीकार न किया; तो भी मेरी आशा समाप्त नहीं हुई है।.........शायद ज़बान से अधिक क़लम का प्रभाव तुम पर पड़े; इसी लिये लिख रहा हूँ। हाथ जोड़ता हूँ, तुम लौट आओ, नहीं तुम्हारे-बिना मैं यहाँ रो-रो कर मर जाऊँगा।.........।

६-१-.........

......नाः! असम्भव! वकील साहब से वह बात मैं नहीं कह सकता। चाहे कुछ हो जाय।...और क्या पता—सावित्री ने उनसे वह बात कही है या नहीं।...... और कही भी हो तो ऐसी कोई भयङ्कर बात नहीं है, जिससे एकदम मेरे ऊपर विपत्ति की बिजली गिर पड़े।.........नहीं, मैं यह उनसे कभी नहीं कह सकता। तुम निश्चिन्त रहो, मेरे मन में तुम्हारी तरफ़ से कोई दुर्विचार नहीं है।......मैं तो अब भी हाथ जोड़ता हूँ—भाई, तुम चले जाओ।.........।

७-१-.........

......अरे रे! तुमने यह क्या किया! वाह रे मेरे पागल भाई! वकील साहब को लिखने की क्या ज़रूरत थी?.........ओफ़ तुमने कितना कठिन पश्चात्ताप

किया !—और बिना बात का !—तुम्हारी इस चेष्टा ने मेरे दुःखी हृदय पर गहरी ठेस लगाई है।......।

१२-१-......

...एक तो ऐसा अपराध किया, ऊपर से धृष्टता-पूर्वक पूछते हो—दो बार पूछ चुके हो—वकील साहब के भाव और व्यवहार में तुम्हारा पत्र पढ़ कर कुछ अन्तर पड़ा या नहीं ?. ....वकील साहब पहले बात करते समय, मेरी ओर इस प्रकार घूर कर देखा करते थे, मानों मेरे हार्दिक भावों को टटोलना चाहते हैं। अब उनका वह भाव नहीं जान पड़ता। अब वे मुझसे हँस कर, प्रेम-पूर्वक स्वतन्त्रता से बोलते हैं।......सचमुच सावित्री ने वह बात वकील साहब से कहदी थी, उनके कथन से ऐसा-ही प्रकट होता था। ख़ैर ! ....

१४-१-···

······क्या बताऊँ ? —सावित्री का व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगता। सदा दूर-दूर रहने की चेष्टा करती है। मेरी उपस्थिति में कभी भूल कर नीचे उतर आती है तो उसी-दम उलटे-पाँव लौट जाती है। और मुँह सदा चढ़ा रहता है। प्रणाम का जवाब भी कभी दस में एक बार सिर हिला कर दे दिया—न भी दिया। सच बात

तो यह है भाई, उस पर मेरी अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, और ख़ास कर तुम्हारे पत्र पढ़ कर।.........।

२०-१-...

......मालूम ऐसा होता है कि मुझ पर वकील साहब की प्रीति सावित्री को बुरी लगती है। पता नहीं, वह मुझे क्या समझती है। आजकल रतन अधिक आने-जाने लगा है।.........।

३-२-...

......कल सुबह वकील साहब रतन को ऊपर कुछ बुरा-भला कह रहे थे। क्या कह रहे थे, और क्यों कह रहे थे, यह तो मैंने साफ़-साफ़ सुना नहीं, हाँ, उनकी रोष-भरी आवाज़ मुझे ज़रूर सुनाई पड़ी थी। रतन उस दिन रोता हुआ अपने घर चला गया। कल दिन-भर न आया, आज न आया। सावित्री ने आज दोपहर को नौकर स्कूल भेजा था—उसे बुलाने के लिये—शायद मेरे आने के बाद आया हो। सावित्री का भाव मेरे-प्रति बड़ा कटु है। कल कई बार नीचे आई। मेरी तरफ़ देखा भी—पर लाल-लाल आँखों से—दाँत पीसते हुए। आज भी यही दशा रही। मैंने अनुमान किया है—सावित्री वकील साहब के रतन पर नाराज़ करने में मेरा हाथ समझ रही है। धिक्!

कैसा निन्द्य सन्देह है !! ...... ।

१०-२-...

......हाँ, उस दिन रतन आया था, और तभी-से मेरी तरफ़ से तना-सा रहने लगा। सावित्री की-ही करतूत जान पड़ती है। पहले-पहल मेरी और रतन की साहब-सलामत, बात-चीत थी, अब वह भी बन्द होगई है। अब आता है; और चला जाता है। मैं अपनी आदत से लाचार हूँ---उसकी खुशामद नहीं कर सकता। होना है सो देखा जायगा।......सावित्री का रोष दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है। भाई, तुम्हारे जाने से मैं निस्सहाय होगया हूँ। कभी सोचता हूँ, यहाँ की नौकरी छोड़ कर इस ईर्ष्यालु वातावरण से अलग होऊँ. पर अभी इम्तहान शुरू भी नहीं हुए, सारा परिश्रम व्यर्थ नहीं खोना चाहता। उधर वकील साहब की प्रेम-वाणी सुन कर बड़ी सान्त्वना मिलती है। बताओ, क्या करना चाहिये।......... ।

४-३-...

......आज सुबह एक विचित्र घटना घटी। अब तक कलेजा काँप रहा है। बात यह हुई कि कुछ दिनों से रतन ने मुझ से फिर बात-चीत शुरू कर दी थी।

शायद यह बात मैंने तुम्हें पिछले किसी ख़त में लिखी भी है। आज सुबह रतन मेरे पास आया और बड़ी बे-तकल्लुफ़ी से—हँस-हँस कर—बातें करने लगा। मैं उसके इस अभूतपूर्व व्यवहार से कुछ चकित भी था और प्रसन्न भी। आध घण्टे तक बात करता रहा। तुम्हें पता है, उसके (मैट्रिक के) इम्तहान दो-तीन दिन बाद शुरू होने वाले हैं। कभी पूछता—अंग्रेज़ी के परीक्षक का 'स्टाइल' कैसा है, कभी पूछता—अमुक कोर्स में कौन कौन-सा भाग 'इम्पॉर्टेण्ट' है, इत्यादि-इत्यादि। अन्त में वह मुझे छोड़ कर चला। सदर दर्वाज़ा पार भी न कर पाया होगा, कि अचानक धम-धम करके वकील साहब नीचे उतर आये और दौड़ कर उसे पकड़ लिया। पकड़ कर मेरे पास लाये और मुझ से बोले—"अपनी जेबें तो देखना।" मैं तो धक्-से रह गया—जब अपने कोट की भीतरी जेब में वकील साहब की सुनहरी घड़ी पड़ी देखी। वकील साहब ने अभय-दान दिया तो मैंने घड़ी उन्हें दे दी। अब वे क्रोध से उबल कर रतन के बाल पकड़ कर बोले—"बदमाश! फिर बदमाशी। घड़ी की चोरी इस बेचारे के सिर लगाना चाहता था। मेरी-ही आँखों में धूल! मैं तेरी एक-एक चेष्टा पर नज़र रखता हूँ, जानता

है ?" यह कह कर उन्होंने रतन को घूँसों, थप्पड़ों और लातों से मारना शुरू कर दिया। सावित्री ने बीच में पड़ कर बचाने की कोशिश की, तो उन्होंने कठोरतापूर्वक उसे हटा दिया और रतन को भविष्य में वहाँ आने का कठोर निषेध करते हुए उन्होंने घर से बाहर निकाल दिया।............भाग्य ने-ही मेरा साथ दिया, जो मेरी लाज रह गई।............।

२३-४-......

....रतन फ़ेल होगया। हज़ार वह मेरी काट में था, पर उसके फ़ेल होने से मुझे हार्दिक दुःख हुआ है।.........रतन के फ़ेल होने के कारण सावित्री मुझ से बहुत रुष्ट होगई है।.........मेरी परीक्षा आरम्भ होगई है। अब तक सभी पर्चे अच्छे किये हैं।

१८-५-......

.........तुम्हें सुन कर खुशी होगी भाई, मैं पास होगया !........

२८-७-......

.........आज मैं बहुत उद्विग्न हूँ। पिछले तीन महीने में तुमने बार-बार पूछा—परन्तु मैंने जान-बूझ कर वकील साहब के व्यवहार के विषय में तुम्हें कुछ न

लिखा। इसका कारण था। असल बात यह थी कि इन पिछले दिनों में मैं सावित्री के मनोभावों को समझ नहीं सका हूँ। कभी मुझे उसके व्यवहार में मातृ-हृदय का प्रेम झलकता है, कभी हार्दिक स्नेही की-सी सहानुभूति और कभी जानी दुश्मन की-सी कटुता दिखाई देती है। तुम से मैं कुछ भी गुप्त रखना नहीं चाहता; वकील साहब की बातों से ऐसा जान पड़ता है कि वे मेरे भविष्य को बहुत अधिक उज्ज्वल बनाने की कल्पना कर रहे हैं। मेरे इतना लिख देने से शायद तुम बात पूरी न समझ सको, पर अभी इसे ऐसी-ही रहने दो, अगले किसी पत्र में स्पष्ट करूँगा! रतन बीच में आने लगा था, पर उसका आना-जाना अब फिर बन्द होगया है। वकील साहब उससे बहुत नाराज़ हैं। ....।

१४—८—......

.........आजकल कुछ नहीं कर रहा हूँ। कभी घण्टे-आध घण्टे का काम हुआ—एकाध पेज टाइप करने को हुआ—तो कर दिया, वर्ना दिन-भर अध्ययन में व्यस्त रहता हूँ। मैंने कई बार वकील साहब से कहने का विचार किया—"कोई काम नहीं है, तो मुझे छुट्टी दीजिये।" पर साहस न पड़ा। यह तो तुम्हें पता-ही है

कि कई महीने से मैं भोजन वकील साहब के घर पर-ही करता हूँ। कपड़े भी वकील साहब के कपड़ों के साथ-ही सिल जाते हैं। तीस रुपया महीना मुझे अब भी मिलता है। यह ज्यों-का-त्यों बचता है। नाइट-स्कूल का वेतन क़िस्त में चला जाता है। सोता भी वकील साहब के घर पर-ही हूँ। असल में भाई, तुमसे छुपाना क्या, मैं वकील का सजातीय हूँ और वे निस्सन्तान हैं, इस लिये वे मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं। अगर मैं यह कहूँ कि अगाध धन-प्राप्ति की आशा से मुझे खुशी नहीं हुई तो यह झूठ होगा, पर रह-रह कर मेरे हृदय में यह भाव पैदा होता है, कि कहीं मैं वकील साहब का कृपा पात्र बन कर और रतन का हक़ छीन कर पाप तो नहीं कर रहा हूँ, या सावित्री के प्रति अन्याय तो नहीं कर रहा हूँ! नहीं जानता, इन सन्देहों की उत्पत्ति क्यों हुई है, पर इनकी सत्यता के विषय में मुझे पूरा सन्देह है। तुम क्या कहते हो ?.........।

१७–१०–......

.........यह बात चारों तरफ़ फैल गई है कि वकील साहब ने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाना निश्चित् किया है।......चारों तरफ़ लोग मेरी ख़ातिर-

तथाज़ः करते हैं। शाम को रोज़ मोटर में बैठकर वकील साहब और सावित्री के साथ सैर करने जाता हूँ। एक-से-एक बढ़िया चीज़ मौजूद रहती है। सावित्री भी अब मुझ से खुश दिखाई देती है। 'भाई' कह कर बोलने लगी है। सुबह अपने हाथ से नाश्ते की तश्तरी मेरे टेबुल पर रख जाती है। भोजन करते वक्त मेरे बराबर कुर्सी बिछाकर बैठती है। कभी कहीं, और कभी कहीं चलने का स्वयं प्रस्ताव करती है। पर भाई, ज्यों-ज्यों यह अमीरी प्रदर्शन और ठाठ-बाट बढ़ता जाता है, मेरी तबियत इस जीवन से विरक्त होती जाती है। तुम जानते हो, मैं स्वाभाविकता का प्रेमी हूँ। जिस जीवन में स्वाभाविकता नहीं—सब तरफ़ कृत्रिमता-ही-कृत्रिमता भरी है—उसमें मुझे आनन्द नहीं आसकता। कई बार जी में आता है, यहाँ से चल दूँ, पर फिर अपने पागलपन पर आप-ही हँस पड़ता हूँ।.........तुम्हें पहले किसी पत्र में लिख चुका हूँ, मैं इसी वर्ष बी. ए. की परीक्षा देने की तयारी में हूँ। बस सिर्फ़ अध्ययन-ही एक ऐसी वस्तु है, जिसमें मुझे अब आनन्द आता है। मुझे पूर्ण आशा है, यदि कोई आकस्मिक घटना न हो जाय, तो मैं इस वर्ष अवश्य पास हो जाऊँगा। आगे मेरा भाग्य।......।

८-१२-···

······सचमुच यही बात है। मेरा हृदय एक प्रकार के शोक से हर समय भरा रहता है। इसी कारण तुम्हें मेरे पत्रों में उदासी दिखाई दे रही है। मुझे इसका बड़ा दुःख है कि पिछले कई महीनों में मैं तुम्हें सिर्फ़ तीन-चार पत्र-ही लिख सका हूँ। तुम्हारा अनुमान स्वाभाविक होते हुए भी असत्य है। अमीरी के अभिमान में मैं तुम्हें पत्र लिखना नहीं भूल गया हूँ, अमीरी की कृत्रिमता और राग-द्वेष-पूर्ण हवा ने मेरा मन खिन्न और हाथ शिथिल कर दिये हैं। मुझे ऐसा जान पड़ रहा है कि रतन और सावित्री छुपे-छुपे मेरे विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रच रहे हैं। क्या षड्यन्त्र है, यह मैं नहीं जानता, पर मालूम ऐसा पडता है कि सावित्री पिता का मन मेरी तरफ से फेरने का प्रयत्न कर रही है और रतन उसका राज़दार है। पर अभी तक वकील साहब के भाव और व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, यह दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ। मैं तो भाई हाथ जोड़ता हूँ, ऐसी धन-दौलत को।···

१-३-··

······अब यहाँ रहना दूभर है। बदमाश रतन ने प्रपञ्च से वकील साहब पर यह साबित कर दिया कि

मैं वेश्या-गामी हूँ। राम! राम!! परमात्मा इसका भला करेगा! वकील साहब ने मुझे परसों अपने पास बुलाया। कहने लगे—"देखो मुरारी! तुम जवान हो, अगर ऐसा करते हो तो कोई अनहोनी बात नहीं है। मैं तुम्हें रोकता नहीं, पर ये लोग रोग का घर हैं, ज़रा सम्हल कर रहना।" मैं तो भाई, शर्म से गड़ गया, मुँह से शब्द न निकला और अकचका कर उनका मुँह ताकने लगा। उन्होंने मेरे मनोभावों को न समझा, और मेज़ की दराज़ में से एक सफ़ेद कपड़े में बँधा हुआ चौकोर पुलिन्दा निकाल कर मुझे दिया। बोले—"मैं तुम्हारे विवाह की फ़िक्र में हूँ। अपने कमरे में ले जाकर इस पुलिन्दे को खोल कर देखना।" शर्म के मारे उस समय मेरी विचित्र दशा थी। मैं चुपचाप पुलिन्दा उठा कर अपने कमरे में चला गया। खोल कर देखा—तो आठ भिन्न-भिन्न लड़कियों के फ़ोटो उसमें बँधे थे और प्रत्येक की पीठ पर लड़की का संक्षिप्त परिचय लिखा हुआ था। कोई बैरिस्टर की लड़की थी, और कोई जज की। मैंने कौतूहल न रोक सकने के कारण बारी-बारी एक-नज़र सब चित्रों को देखा और फिर सब को एक कोने में फेंक दिया। विवाह करने का तो मेरा विचार-ही न

था !········सन्ध्या को वकील साहब ने एकाध कड़ी बात भी मुझे सुनादी। हाय ! हाय ! उन्हें मेरे वेश्या-गामी होने में ज़रा भी सन्देह नहीं रहा है।

७-५-···

······पिछले एक महीने में मैंने तुम्हें एक भी पत्र नहीं लिखा। इसके लिये मुझे क्षमा करना। यह शायद मैं तुम्हें अन्तिम पत्र लिख रहा हूँ। और कुछ लिखने के पहिले मैं तुम्हें सूचित कर देना चाहता हूँ कि मैं थर्ड इयर की परीक्षा में पास होगया हूँ पर बड़ी मुश्किल-से। कारण यह था कि परीक्षा से पहले के दो महीने मेरे लिये ज़हर की घूँट हो गये थे। वकील साहब मुझ से एक-दम बिगड़ बैठे हैं। वे मुझे जुआरी समझते हैं, शराबी समझते हैं, वेश्या-गामी समझते हैं, और जाने क्या-क्या समझते हैं। यह सब रतन और सावित्री की करामात है। इनका भला हो। वकील साहब समझते हैं, मैं उनके धन का दुरुपयोग कर रहा हूँ। मेरे-प्रति उनके हृदय में ऐसे घोर सन्देह का प्रादुर्भाव हो आया है, जो अमिट है। रतन और सावित्री की सीख ने वकील साहब के बुद्धिमान मन को अन्धा बना दिया है। मेरे व्यक्तित्व का अनुमान् लगाने में वकील साहब ने घोर

अनुदारता से काम लिया है। उन्होंने हाल-ही में मुझसे जो कहा है, और मेरे साथ जो व्यवहार किया है, वह मुझे यहाँ से हटने पर बाध्य करता है। मैं अपने विरुद्ध लगाये हुए अभियोगों के प्रतिवाद में कोई अनुचित काम करना नहीं चाहता। इस पत्र को मैं तब डाक में छोड़ूँगा, जब कहीं जाने के लिये स्टेशन पर चला जाऊँगा। कहाँ जाऊँगा, यह कोई नहीं जानेगा। कभी मौक़ा लगा तो तुम्हें लिखूँगा, अन्यथा तुम मुझे भूल जाना। मुझे इस अनन्त वैभव को छोड़ते हुए कुछ दुःख नहीं होता। मैं कङ्गाल था, कङ्गाल-ही होगया। मेरा बिगड़ा क्या;—इस एक वर्ष के जीवन में-जो अमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ है, मैं उसे-ही लेकर इस विस्तृत संसार-सागर में बिल्कुल नये रूप में प्रवेश करूँगा। या तो पार-ही हो जाऊँगा, या डूब मरूंगा। बस! क्षमा-भाव रखना!!

१

मास्टर साहब

सम्पतराय ने पुस्तक मेज़ पर फेंक कर आराम-कुर्सी में पड़े-पड़े-ही हाथ फैला कर ज़ोर-से अँगड़ाई ली। बसन्ती—उनकी सजातीय आश्रिता—आलमारी की पुस्तकें झाड़ रही थी। सम्पतराय ने जमुहाई लेकर कहा—"अरे बसन्ती!........."

"जी!"

"इसने—मास्टर ने—मकान छोड़ दिया क्या कई दिन से उसकी बाँसुरी नहीं सुन पड़ती।"

"मकान तो नहीं छोड़ा है, पर तीन दिन से बैठक के सब दर्वाज़े बन्द हैं। ...."

"तो क्या कहीं गया है?"

"सुनिये तो, कहीं गया नहीं है; बीमार है। आज उसके कराहने की आवाज़ मैंने सुनी थी। मैं ख़ुद-ही आपसे कहने वाली थी।"

सम्पतराय ने कुर्सी पर सीधे होकर चौंक कर पूछा—"कराहने की आवाज़ आरही थी? बीमार है? और भीतर-से दर्वाज़ा बन्द कर रखा है?"

गर्द-लगे हाथों को झाड़न से पोंछते हुए बसन्ती ने कहा—"जी हाँ, और जो लड़के इनके पास पढ़ने आया करते थे न, वे तीन रोज़ से वापिस जा रहे हैं।"

सम्पतराय ने आश्चर्य्य-से कहा—"लेकिन यह तो बड़ी विचित्र बात है, कि एक बीमार आदमी घर बन्द करके पड़ा रहे, और बीमारी की चिकित्सा.........तो क्या औषधि-इत्यादि के लिये भी यह मास्टर घर से बाहर नहीं निकला?"

बसन्ती ने कहा—"जी नहीं, मैंने कई आदमियों

से पूछा—मालूम हुआ, तीन दिन से वह अपनी बैठक से बाहर नहीं हुआ है। बल्कि आज—अभी थोड़ी देर पहले की बात है—मालिक-मकान ने उनकी बैठक के एक दर्वाज़े में धक्के दिये थे, परन्तु धीमी कराहट के सिवा कुछ उत्तर नहीं मिला। मेरे विचार में मुहल्ले के दो-चार आदमियों को इकट्ठा कर मालिक-मकान दर्वाज़ा तोड़ने की तैयारी में है।"

सम्पतराय ने पूछा—"यह कितनी देर की बात है ?"

"अभी-अभी," बसन्ती बोली—"जब मैं पाँचू के साथ बाज़ार से लौट कर आई थी।"

पाँचू सम्पतराय के बूढ़े नौकर का नाम था।

सम्पतराय कहने लगे—"बड़े आश्चर्य्य की बात है!"

"क्या बात है ?" सुमित्रा ने बैठक-खाने में प्रवेश कर पूछा।

सुमित्रा सम्पतराय की स्त्री है।

सम्पतराय बोले—"वे मास्टर साहब हैं न······।"

"····················?"

"·········जो गली के लड़कों को मुफ़्त पढ़ाते हैं।'

"हाँ········"

"जो बाँसुरी बजाया करते हैं।"

"हाँ।"

"उन्हीं के विषय में बात हो रही थी।"

"हाँ क्या बात ?"

"बसन्ती कहती है, वह तीन दिन से बीमार हैं, और भीतर से दर्वाज़ा बन्द किये पड़े हैं।"

"बीमार हैं, और दर्वाज़ा बन्द किये पड़े हैं!—कैसे मालूम हुआ ?"

"बसन्ती कहती है,—मालिक-मकान ने भीतर से कराहने की आवाज़ सुनी है।"

सुमित्रा ने बसन्ती की तरफ़ फिर कर पूछा—"क्यों ??"

"जी हाँ, मैं पाँचू के साथ बाज़ार से आरही थी, तो उस मकान में घुस कर देखने लगी कि मास्टर ने बैठक का दर्वाज़ा खोला है या नहीं। देखा, तो बन्द था। इतने में मालिक-मकान आगया। भीतर से कराहट की आवाज़ आरही थी। वह गली के दो-चार आदमियों को इकट्ठा कर बैठक के किवाड़ उतारना चाहता है।"

"वाह! यह भी खूब रही!" सुमित्रा ने ऐसे स्वर में कहा, जिसमें व्यङ्ग नहीं, आश्चर्य था—"घर बन्द करके पड़ रहना कौन-सी बीमारी का इलाज है।"

सम्पतराय ने कहा—"ये मास्टर साहब मुझे शुरू से-ही विचित्र जान पड़े हैं। देखो, कई महीने इसे आये हुए, परन्तु बाँसुरी की आवाज़ के सिवा इसकी उपस्थिति का कोई भी प्रमाण नहीं मिला।.........मगर इसका निर्वाह कैसे चलता है ....?"

सुमित्रा ने कहा—"लड़के पढ़ाता है न ?"

बसन्ती ने बात काट कर जल्दी-से कहा—"लड़के तो मुफ़्त पढ़ाते हैं; निर्वाह तो दूसरे प्रकार चलता है।"

सम्पतराय और सुमित्रा जब उसकी ओर आकृष्ट हो गये तो उसने बताया—"उनका निर्वाह तो असल में चित्रकारी पर निर्भर है। चित्र खींचते हैं—रङ्गीन। एक कैमरा भी है।"

"चित्र खींचते हैं ?" सम्पतराय ने कहा—"हमने तो कभी देखा नहीं—घर में-ही खींचते हैं ?"

बसन्ती ने कहा—"घर में खींचते हुए तो मैं ने भी नहीं देखा। हाँ, कभी-कभी लाल्टेन के प्रकाश में बैठक में बैठे रङ्ग तो भरा करते हैं। कभी-कभी कैमरा लेकर घर से बाहर भी जाते देखे हैं। मेरा तो अनुमान ऐसा-ही था, कि चित्र-विद्या से-ही ये अपना ख़र्च चलाते हैं।"

"मगर प्रश्न तो इस समय यह है," सुमित्रा ने

कहा—"ये तुम्हारे मास्टर साहब बीमार होकर दर्वाज़ा बन्द किये क्यों लेटे हैं ?"

बसन्ती इसका कुछ उत्तर न दे सकी।

सम्पतराय कहने लगे—"देखोजी, यहाँ बैठे-बैठे फ़िलॉसफ़ी छौंकने से तो काम चलेगा नहीं, यह करना चाहिये...... ......"

"पाँचू ! पाँचू !" सम्पतराय ने दो बार आवाज़ दी।

"देखो," बूढ़े पाँचू के आने पर सम्पतराय ने आज्ञा दी—"ये मास्टर साहब हैं न ?"

"जो बैठक में रहते हैं।" बसन्ती ने सम्पतराय की बात आगे बढ़ाई।

बसन्ती की तरफ़ कुछ घूमकर पाँचू ने कहा—"जिनकी बैठक का किवाड़ उतारने की तैयारी हो रही थी—अभी-अभी ?"

"हाँ ! हाँ !" बसन्ती ने कहा।

बसन्ती का इस प्रकार अपनी बात के बीच में पड़ना सम्पतराय को बुरा तो न लगा, पर इस थोड़े-से अवसर में उनके हृदय में एक नवीन प्रश्न का प्रादुर्भाव हुआ, पर जिसे उपस्थित करने का मौक़ा उन्हें न मिला, और बसन्ती से निबटकर अपनी ओर जिज्ञासा-पूर्ण दृष्टि

से देखते हुए पाँचू से उन्होंने अपनी उक्त आशा के सिलसिले में कहा—"तुम वहाँ जाओ; देखो, क्या हो रहा है?"

पाँचू चलने को तैयार हुआ। फिर रुककर पूछने लगा—"तो क्या देख कर आऊँ वहाँ?"

पाँचू की स्वाभाविक और चिर-परिचित मूर्खता ने सब को हँसा दिया। और बसन्ती ने लताड़-भरे स्वर में उससे कहा—"अरे, वहाँ देखकर आ, उन्हों ने किवाड़ उतारा है, या नहीं, उतारा है, तो क्या बात है, या खुद मास्टर साहब ने-ही दर्वाज़ा खोल दिया है। जैसा भी हो।"

पाँचू सिर झुका कर धीरे-धीरे चला गया।

"गधा है, बिल्कुल!" बसन्ती ने हँसते हुए कहा—"पूछता है—क्या देख कर आऊँ?"

सुमित्रा ने कुछ गम्भीरता से कहा—"इस बेचारे की उम्र अब नौकरी करने-क़ाबिल नहीं है। बुढ़ापे में सभी की बुद्धि में अन्तर आ जाता है।"

सम्पतराय इस वार्त्तालाप में भाग नहीं ले रहे थे। उनके हृदय में जो प्रश्न उपस्थित हुआ, कुछ-ही क्षणों में उसने उद्दाम उत्सुकता का रूप धारण कर लिया। और

इस उत्सुकता का प्रकाशन भली प्रकार अपने अधिकार के दायरे में समझ कर वे बोले—"पर बसन्ती, यह तो बताओ.........।"

बसन्ती का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये सम्पतराय ने एक क्षण रुक कर कहा—"तुम्हें मास्टर साहब के विषय में इतनी बातें कैसे मालूम हुईं ?"

सम्पतराय का प्रश्न पूरा न समझ कर भी बसन्ती का चेहरा सफ़ेद हो गया। उसने थथमकर कहा—"वाह ! यह भी कोई सवाल है ? आते-जाते, तुझ-मुझ से पूछने से पता चल गया !"

"यही तो सवाल है !" सम्पतराय ने आराम-कुर्सी के दोनों बाजुओं पर दोनों हथेलियाँ टेककर मुस्कुराते हुए कहा—"तुम्हें मास्टर साहब के विषय में इतनी जिज्ञासा क्यों हुई कि तुझ-मुझ से पूछने की आवश्यकता पड़ी ?"

बसन्ती का मुँह उतर गया। उसे अपने हृदय में यह टटोलने के लिये रुक जाना पड़ा कि सम्पतराय की बात का कोई उत्तर उसके पास है या नहीं। पर ऐन इसी वक़्त सुमित्रा ने बीच में पड़ कर इस संकटापन्न अवस्था से उसे बचा लिया।

बोली—"व्यर्थ की बात है! पास-पड़ौस में आये हुए नये आदमी के विषय में स्वाभाविकतया-ही पूछताछ करने की इच्छा होती है।"

पर सम्पतराय फिर भी बसन्ती का पीछा छोड़ने को तैयार न हुए। हँसते हुए बोले—"बे-मतलब किसी के विषय में पूछ-ताछ की इच्छा होना तो न स्वाभाविक है, न बुद्धिमानी!"

सुमित्रा, दुखिया विधवा बसन्ती का बहुत लिहाज़ करती थी। उसे जान पड़ा—सम्पतराय का प्रश्न अनुचित है, और उसे सुनकर बसन्ती के दिलपर चोट पहुँची है। एक बार बात उड़ाने की कोशिश करने पर भी जब सम्पतराय बाज़ न आये, तो उसने चुपके-से आँख का संकेत किया—'ऐसा न कहो, बसन्ती बुरा मान जायगी।'

सम्पतराय ने फिर वैसी कोई बात न कही।

थोड़ी देर बाद पाँचू एक आदमी के साथ लौट आया।

यह आदमी उस मकान का मालिक था, जिसमें मास्टर साहब रहते थे।

परस्पर अभिवादन के बाद उसने सम्पतराय से

वही सब बात कही जो वे बसन्ती के मुँह से सुन चुके थे और बताया—"मैं आप को बुलाने आया हूँ। और भी कई आदमी मौजूद हैं। मैं आपके सामने-ही दर्वाज़ा तोड़ना या उतारना चाहता हूँ।"

सम्पतराय उसी-दम तैयार हो गये।

वहाँ पहुँच कर देखा—मुहल्ले के गण्य-मान्य व्यक्ति मौजूद थे। बैठक का दर्वाज़ा बन्द था, सम्पतराय ने किवाड़ पर कान लगाकर सुना—समान अन्तर पर किसी के कराहने की हलकी-हलकी आवाज़ इस प्रकार आ रही थी, मानों कराहने वाला बाहरी आन्दोलन से अनभिज्ञ, बेहोश है, और उसके प्रत्येक साँस के साथ कराहट निकलती है।

सम्पतराय का हृदय दयार्द्र हो उठा—कराहट बड़ी वेधक थी! उन्होंने उसी-दम किवाड़ उतारने की राय दी।

किवाड़ उतारे गये। सब लोग भीतर गये। भीतर अन्धकार था। केवल एक खिड़की खुली थी, जो मुश्किल से दो प्राणियों के साँस लेने-योग्य ताज़ी हवा ला सकती थी। जाते-ही बैठक के दोनों गली की तरफ़ के दर्वाज़े खोल दिये गये।

प्रकाश होने पर सबने देखा—एक कोने में ढीली

चारपाई पर दरी बिछाये एक नवयुवक अस्त-व्यस्त दशा में बेहोश पड़ा है, और हलकी साँस के साथ उसके मुँह से कराहट की आवाज़ निकल पड़ती है। उसका बायाँ हाथ छाती पर है और दायाँ खाट से नीचे लटक रहा है।

यही मास्टर मुरारीलाल थे।

सब से पहिले सम्पतराय उनकी तरफ़ बढ़े।

इसी समय बूढ़े पाँचू के साथ बसन्ती ने बैठक में प्रवेश किया। सम्पतराय ने दोनों को देखा, और इस करुणाजनक स्थिति में भी उनसे मन-ही-मन मुस्कराये-बिना न रहा गया।

२

सुमित्रा

लखपतराय और सम्पतराय माँ-जाये भाई थे। लख-पतराय बड़े थे—चालीस वर्ष के, विधुर। सम्पतराय छोटे थे—सत्ताइस वर्ष के कुँआरे। ये दोनों-ही पैतृक विशाल सम्पत्ति के स्वामी थे। लखपतराय ने दूसरा विवाह न किया—जवानी के तीसरे पन से गुज़रते हुए

छोटे भाई को कुँआरा देख कर—सम्पतराय विवाह करना न चाहते थे।

ये दोनों अभागे उस धर्म-वृक्ष के पत्ते थे, जिसके अनुयायी सड़ी रूढ़ियों पर—पाँव-पर-पाँव धर कर-ही—स्वर्ग पहुँचने का विश्वास करते हैं। जाली-से, मोटे-मोटे सूराखों वाले कपड़े से छान कर पानी पीने में, गली सब्ज़ियों का ऑपरेशन कर उनका सूखा गोश्त खाने में, और ऐश्वर्य्य-प्रदर्शन, सौन्दर्य्य-दर्शन और जाने किस-किस कर्म के अड्डों अथवा धर्म-मन्दिरों में जाकर, आँख मींच कर, हाथ जोड़ कर, घण्टा बजाकर अथवा ताली पटकाकर पत्थर या धातु की मूर्त्तियों के समक्ष हिजड़ों की तरह रोने-गाने में-ही गार्हस्थ्य धर्म की इति-श्री समझ लेते हैं। ये दोनों उसी नामर्द सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जिसका रक्त शत्रुओं के मुक़ाबले में आकर पानी हो जाता है। ये दोनों उस भारतीय यहूदियों के मत से सम्बन्ध रखते थे, जो अपनी बहन, बेटियों, स्त्रियों, माताओं की रक्षा करना—अहिंसा की दुर्भेद्य ढाल के पीछे बैठ कर—अधर्म समझते हैं। वह धर्म महा-प्राचीन है, और उसका अन्तिम प्रचारक या उद्धारक वही महावीर था, जिसकी शिक्षाओं के प्रभाव ने, बौद्ध-धर्म

के प्रचण्ड और तूफ़ानी मुक़ाबले में अपने अस्तित्व का नाश न होने दिया। उस धर्म का नाम जैन धर्म है।

लखपतराय थे कट्टर जैनी—ऑरथोडक्स—विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के एड़ी-से-चोटी तक विरोधी, नगर की पञ्चायत के सरपञ्च—और सम्पत-राय ठीक इसके विपरीत—जैसे एक-ही डण्ठल में खिले हुए गुलाब के दो फूल—एक का मुँह पूरब को तो दूसरे का ठीक पश्चिम को, या, दोनों में ३ और ६ का अन्तर था—एक इधर को तो दूसरा उधर को।

हाँ तो, सम्पतराय थे—विधवा-विवाह के कट्टर पक्षपाती। "विधवा के सिवा किसी से विवाह न करेंगे"—यही उनकी प्रतिज्ञा थी। दर्जनों क्यों—कमती-बढ़ती सैकड़ों-ही सुन्दरी, सुशीला, पढ़ी-लिखी धनाधीशों की कन्याओं के फ़ोटो और शरीर उनके सामने आये थे—पर उन सब में एक-ही 'कमी' न थी—जो सचमुच कमी-ही है और सम्पतराय जिसकी टटोल में थे—, उनमें कोई भी विधवा न थी, सभी कुँआरी थीं।

लखपतराय का भाई पर अतुल—अगाध प्रेम था। उन्हें अविवाहित देख कर वे रञ्ज से घुले जाते थे। वे जानते थे—लखपतराय के इरादे को। पर धर्म—अरे!

धर्म के विरुद्ध, समाज के विरुद्ध, आम्नाय के विरुद्ध जाने की कल्पना वे कैसे करें? उन्होंने भाई की युवक-वृत्ति को अनेक उपायों से डिगाना चाहा, पर वह अडोल थी, अकम्प्य थी!

सम्पतराय का हृदय भाई की भक्ति से पुलापुल भरा था। अपने सिद्धान्त के विरुद्ध होने पर किसी से विरक्ति होजाना मानवी दौर्बल्य है। वे इस दौर्बल्य से मुक्त थे। सिद्धान्त के वे ऐसे दृढ़ थे, कि न उन्हें उत्तराधिकारी की चिन्ता पागल बनाती थी, न सुन्दरियों की सुन्दरता डिगाती थी, न भाई की कोशिश, व्याकुलता और आकांक्षा कोई प्रभाव जमाती थी। पर सिद्धान्त पर, अपने स्वार्थ पर, लौकिक सुख पर उन्हें भाई को समाज में रुसवा करना, उनकी शान में अन्तर डालना मञ्जूर न था। सत्ताइस वर्ष के होगये पर विवाह न किया—न किया। बल्कि भाई से प्रकटतः आज तक अपना निश्चय प्रकट तक न किया, और अपने स-हास्य जीवन में कोई अन्तर न डाला।

धड़-धड़! "भाई-साहब! भाई साहब!" सुन कर लखपतराय ने अपने कमरे का दर्वाज़ा खोल दिया। आधी से अधिक रात थी, तारों का नाम नहीं, घनघोर

वर्षा, बिजली की चमक और बादलों की घड़घड़ाहट ने भयङ्कर दृश्य उपस्थित कर रखा था। इसी भयङ्कर वातावरण में सम्पतराय पानी में सराबोर भाई के कमरे के बाहर खड़े हुए थे।

लखपतराय भौंचक-से रह गये।

"सम्पत !" उन्होंने कहा—"यह क्या ? भीतर आओ।"

"भाई साहब !" सम्पतराय ने तेज़ और जमी हुई आवाज़ में कहा—"थोड़ी तकलीफ़ कीजिए, बैठकख़ाने में आइये।"

लखपतराय "क्यों-क्यों" और "क्या क्या" करते रह गये, पर सम्पतराय न ठहरे और "जल्दी आइये" कहकर तेज़ी-से बैठकख़ाने की तरफ चले गये।

लखपतराय ने चादर ओढ़ी, और चले।

सम्पतराय ने कोट-टोपी उतार कर बाहर खूँटी पर टाँग दिया था, और लखपतराय ने देखा—वे ज्यों-के-त्यों, गीली क़मीज़-धोती पहने, एक बेत की कुर्सी पर स्तब्ध विराजमान हैं।

कोने में कोई स्त्री सिकुड़ी हुई—गठरी-सी—बैठी हिचकियाँ ले-ले कर रो रही थी। लखपतराय चौंक पड़े—

जैसे सामने से साँप गुज़र गया हो। फिर धीरे-धीरे आकर एक गद्देदार सोफ़े पर बैठ गये—उस हिचकती हुई स्त्री की तरफ़ निरन्तर ताकते हुए ऐसी दृष्टि से—जिसमें कौतूहल था, आश्चर्य था, रहस्य था और थोड़ा—बहुत थोड़ा-सा—भय भी था। फिर उन्होंने अनुज पर एक ऐसी नज़र डाली, जिसमें उनके मनोभाव साफ़-साफ़ पढ़े जा सकते थे।

"भाई साहब!" काँपते हुए, प्रचण्ड, उद्युक्त स्वर में सम्पतराय ने कहना शुरू किया—"भाई साहब! आप की लाड़ली—घृणित—समाज के अत्याचारों की यह मुजस्सिम तस्वीर आपके सामने मौजूद है। सुनिये इसकी कहानी, छोड़िये इस नपुंसक, अनुदार समाज को, और निकलिये इस अन्ध-कूप से...... "

सम्पतराय की जवान आँखें जोश के मारे बल-बल कर रही थीं। लखपतराय के सभी मनोभावों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। उन्होंने शान्त—शान्त क्यों भयग्रस्त कहिये—स्वर में कहा—"क्या मामला है भाई?—ये देवी कौन हैं?"

"देखिये," सम्पतराय ने उस—पहले सिसकती हुई और अब सहमी हुई, चुप—स्त्री की ओर संकेत

करते हुए उसी जोश के साथ कहा--"इस अभागिनी बिधवा का सारा कुटुम्ब—दो दिन हुए—आप के इस शहर में यहाँ के मन्दिरों के दर्शन करने आया था। आज शाम को ये लोग इसी मन्दिर में—जिसमें पञ्चायत हुआ करती है--आये। यह बेचारी एक अँधेरे कोने में बैठ कर जाप करने लगी। सन्ध्या बीत चुकी थी. अँधेरा फैल गया था, उन लोगों ने इसकी तरफ़ ध्यान न दिया, और चले गये। जाप करते-करते यह अभागिनी बोल नहीं सकी, बस, समाप्त करते-करते दस मिनट लग गये। और जब यह हबड़-झबड़ करती मन्दिर के चौक में आई, तो आप के बदमाश धर्म-ध्वजी रामचन्द्र ने—इसे मन्दिर के पुजारी या रखवाले की मदद से—पकड़ कर एक कोठरी में बन्द कर दिया। ग्यारह बजे जब दर्शनार्थियों का आना-जाना बन्द हो गया तो उस नर-पिशाच ने इसे कोठरी से निकाला। यह बेचारी रोई, कलपी, हाथ जोड़े, धर्म की दुहाई दी, और जब कोई उपाय न रहा तो फुर्ती-से ज़ीने की राह छत पर चढ़ कर ज़ोर-से चिल्लाई। बारिश बड़े ज़ोर-से हो रही थी, तो भी मेरे कानों में इसकी चीख़ की आवाज़ पड़ गई और जब मैंने दौड़ कर मन्दिरके दरवाज़े में ज़ोर-ज़ोर से धक्के लगाए,

तो वे दोनों बदमाश छत पर से गली में कूद कर भाग गये। इसी ने आकर दरवाज़ा खोला। देखा आपने? यह होता है आप के मन्दिरों में, भगवान् की मूर्त्तियों के समक्ष, धर्म-रक्षकों द्वारा!! थू! धिक्कार है!!"

लखपतराय भाई का लम्बा, जोशीला वक्तव्य सुन कर स्तम्भित होगए। सिर झुक गया। कई मिनट कुछ न बोले। फिर उन्होंने एक अनुचित और अनुपयुक्त प्रश्न किया—"यह कैसे पता लगा कि वह रामचन्द्र-ही थे जो इस लड़की का सतीत्व लेना चाहते थे?"

सम्पतराय ने लपक कर एक पगड़ी कोने वाली मेज़ पर से उठाली, और बे-बाकी-से बोले—"सारे शहर में इस क़िस्म की पगड़ी कोई नहीं पहिनता।"

लखपतराय ने भी रामचन्द्र की निराली पगड़ी पहिचान ली। फिर चिन्ता में पड़ गये—जिसमें विषाद था, वेदना थी, व्याकुलता थी। उफ़! पण्डित रामचन्द्र और ऐसी चेष्टा! मन्दिर में!!

लगभग सारी रात तर्क-वितर्क में बीती। तर्क-वितर्क सिर्फ़ इस बात का था कि रामचन्द्र और मक्खन पुजारी के साथ क्या व्यवहार किया जाय। जब सम्पत-राय का जोश कुछ हलका हुआ, और लखपतराय ने ऊँच-

नीच उन्हें सुझाई तो उन्हें लखपतराय के इस प्रस्ताव को मान लेना पड़ा कि—"सुमित्रा—यह लड़की—चुपके-से उसके कुटुम्बियों को सौंप दी जाय और इस मामले को दबा दिया जाय, क्योंकि बात फैलने पर रामचन्द्र का तो कुछ बिगड़-ही नहीं सकता—उसके विरुद्ध पर्याप्त सुबूत नहीं ह, उल्टे इस बेचारी विधवा की मोती की-सी आब नष्ट होजायगी।"

सम्पतराय ने कहा—"इस न्याय के ढकोसले का नाश हो!"—और फिर नहा-धोकर आठ बजे-ही, सुमित्रा के बताये हुए पते पर उसे धर्मशाला में उसके कुटुम्बियों को सौंपने चले।

पर वहाँ से जो उत्तर मिला, सम्पतराय ने उसकी कल्पना भी न की थी, और उसे सुन कर वे उन लोगों से एक बार तो लड़ने-मरने पर उतारू हो गये।

"देखिये साहब!" चारों तरफ़ यात्रियों की इकट्ठी हुई भीड़ में से एक प्रश्न-कर्त्ता को लक्ष्य कर, ऐनक-धारी हड्डीले, बूढ़े, लड़की के बाप ने तड़प कर कहा—"मैं इस पिशाचिनी लड़की का मुँह नहीं देखना चाहता। अच्छा होता, यदि यह कुएँ में डूब कर मर जाती। मैं कैसे विश्वास करूँ, इसने इस लम्बी रात में मेरा माथा अ-कलङ्क

बनाये रखा होगा। और मैं इन महाशय का-ही कैसे विश्वास करूँ, जो इसके हिमायती बन कर मुझ से लड़ने आये हैं। मैं मानूँ भी, इन्होंने इसका उद्धार किया, तो करें निर्वाह इसका ये-ही। मेरे निष्कलंक—दूध-से—खान्दान की पवित्र सूची में नाम लिखाने का अधिकार अब इस पापिनी को नहीं है।"

सम्पतराय ने हाथ जोड़े, मिन्नतें कीं, विश्वास दिलाया, डाँट की, डपट की, मुक़दमे का भय दिखाया, और अन्त में धर्म की दुहाई भी दी, पर सब निष्फल—उस फ़ौलादी कलेजेवाले हड्डियों के पञ्जर में अपने वीर्य से पैदा हुई सन्तान के लिये मिट्टी के खिलौने के बराबर भी मोह पैदा न हुआ, और धर्म और समाज के उस अन्ध-भक्त ने अपनी फूल-सी बेटी की हा-हाओं पर तिल-मात्र भी ध्यान न दे, उसे मुर्दे से भी ज़्यादा त्याज्य समझ कर उसके त्यागने में अत्यन्त तत्परता और उत्सुकता दिखाई।

सम्पतराय ने गुस्से में भर कर बूढ़े के दोनों बाज़ू पकड़े, और दाँत पीस कर उसे झकझोरते हुए कहा—"निष्ठुर, पत्थर पिता! तेरे लिये आठवें नरक की रचना की जायगी!!"

और आँसू बहाती हुई, अपने भाइयों, भतीजों और भाभियों के गले लिपट कर रोती हुई (माँ उसकी ज़िंदा नहीं थी) सुमित्रा को साथ लेकर सम्पतराय घर लौट आये।

लखपतराय ने सब सुना, तो सन्नाटे में आगये।

"ऐसा पिता! ऐसे निष्ठुर पिता को गोली से उड़ा देना चाहिये!" उन-जैसे अहिंसा-वादी के मुँह से भी निकल-ही गया।

सुमित्रा तीन दिन उन्हीं के घर में रही। बडी सुन्दरी थी। गोरा, सुडौल, लम्बोतरा मुँह, ठोड़ी की बाँयीं तरफ़ एक काफ़ी बड़ा तिल, और उस पर उगे हुए पाँच-छः सुनहरी बाल—जिन्हें रोआँ कहना चाहिये, उस-के सौन्दर्य्य में डेढ़-गुनी बृद्धि करते थे। लखपतराय ने इन्हीं तीन दिनों में भाई और इस सुन्दरी विधवा के मनो-भाव देखे, परिस्थिति देखी, भविष्य देखा, और जाने क्या-क्या देखा और सोचा,—सम्पतराय से बातें कर उनके अस्पष्ट इरादे का स्पष्ट अनुमान किया, और तीन दिन में समाज में उड़ती हुई हूँ-हूँ—थू-थू भी सुनी और तब बहुत सोच-विचार कर वे इस परिणाम पर पहुँचे कि—

चौथे दिन सुबह वे सिर्फ़ दस हज़ार रुपये लेकर, अपने हिस्से की सारी सम्पत्ति भाई के नाम कर, पलँग

पर एक पत्र छोड़ कर ग़ायब देखे गये। जिसने उस पत्र को पढ़ा-सुना, वही वाह! वाह! कर उठा।

पत्र था—

भाई सम्पत,

मैंने सब देखा—सब सुना—सब समझा। मैं जानता हूँ, तुम मेरे भक्त हो—मैं जानता हूँ, तुम सुमित्रा से विवाह कर उसका जीवन सुधारना चाहते हो—मैं समझता हूँ, वह तुम्हारे लिये उपयुक्त है—मुझे यह भी आशा है, कि तुम मेरी आज्ञा पर शायद इसे त्यागने पर उतारू हो जाओ, पर मैं इस अभागिनी कन्या का जीवन नष्ट नहीं करना चाहता—तुम्हारे सत्सङ्कल्प में—हाँ अब मैं इसे सत्सङ्कल्प-ही कहूँगा—मैं बाधक नहीं बनना चाहता, न तुम्हें सदा कुँवारा रख कर अपने विचार में तुम्हारा जीवन और अपने ख़ान्दान का नामो-निशान नष्ट करना-ही चाहता। लेकिन—साथ-ही मैं अपने हृदय को इतना मज़बूत भी न बना सका कि दुर्जनों विधवा-विवाह-पक्षपातियों को जाति-बहिष्कृत कर देने वाला मैं पापी समाज से निकाला जाऊँ, अपमान सहूँ, नक्कू बनूँ, और फिर जीता रहूँ। तुम मेरे हो, इस अपनत्व का परिचय देने के लिए-ही मैं घर-बार, धन-दौलत और

तुम्हारे लिये-ही तुम्हें भी त्यागता हूँ। मेरी आज्ञा है, तुम सुमित्रा से विवाह करना, मेरा आशीर्वाद! मेरी खोज में तुम धन और समय व्यय न करना, बल्कि जहाँ तक हो सके इन दोनों—धन और समय—को दीन-दुखियों की सहायता में लगाना। तुम्हारा कल्याण हो!

तुम्हारा भाई,

—लखपतराय।

इसके बाद—इसके बाद लखपतराय की खोज हुई, सुमित्रा और सम्पतराय का विवाह हुआ, और फिर पञ्चायत हुई। नाटक-सा—असफल नाटक-सा—खेला गया। सम्पतराय भी पञ्चायत में शामिल हुए। उन्होंने वहाँ ऐसा मार्मिक भाषण किया। आध घण्टे की उनकी प्रचण्ड और प्रभावशाली वक्तृता ने अभूत-पूर्व असर किया। सर-पञ्च महोदय—जो लखपतराय की जगह पर नये निर्वाचित हुए थे—और एक अन्य पञ्च ने अपना पद उसी समय त्याग दिया, और सम्पतराय के विरुद्ध निर्णय देने से इनकार कर दिया।

पर इस समाज की प्रकृति में फ़ौलादी टाँके लगे हैं। विधवा-विवाह को जायज़ करार देकर पञ्चायत अपनी कीर्त्ति की अक्षुण्णता में कैसे अन्तर डाल सकता

थी ? दो-तीन दिन बाद फिर पञ्चों का चुनाव हुआ, पञ्चायती नाटक हुआ, दोनों पञ्च—जिन्होंने पद त्याग कर विधवा-विवाह के पक्ष में वक्तव्य दिया था—और सम्पतराय तथा समाज की 'शादी-ग़मी', 'लेन-देन' और 'हुक्के-पानी' के बीच में एक दीवार खड़ी कर दी गई, नाई को इस फ़तवे की सूचना देदी गई, और पापिनी, हत्यारिनी पञ्चायत ने अपनी अपवित्र जीभ से पवित्र महावीर भगवान् की "जय" बोलकर मन्दिर ख़ाली किया !

यही सम्पतराय—सुमित्रा के पति—इस समय मास्टर मुरारीलाल की रुग्ण देह की परीक्षा कर रहे हैं।

३

उपचार

मन-ही-मन मुस्कुराते हुए सम्पतराय की निगाह बसन्ती से हटकर एक बार कमरे के चारों तरफ़ घूम गई। कमरे की दीवारों में, छत में, प्रत्येक उपस्थित वस्तु में—यहाँ तक कि हवा तक में भी—दरिद्रता व्याप रही थी। दीवारें लगभग नङ्गी थीं। एक दीवार पर एक

तरफ़ खूँटी पर कुछ कपड़े टँगे थे, और दूसरी तरफ़ एक साधारण कैलेण्डर—जैसे कभी-कभी बाज़ारों में मुफ़्त बटते हैं—लटका हुआ था। चारों दीवारों पर—जहाँ तक साधारण क़द के आदमी का हाथ जा सकता था—लापर्वाही से सफ़ेदी का लेप कर दिया गया था, और उनका बाक़ी—ऊपरी—भाग मैला, गन्दा और जालों से भरा हुआ था। एक कोने में चूल्हा बना हुआ था, जिसमें राख और लकड़ियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं, और एक चौड़ी धुएँ की पाढ़ दीवार पर चढ़ती हुई कड़ियों में जाकर लुप्त होगई थी। सामने की तरफ़ बाएँ हाथ का कोना कुछ साफ़-सुथरा था। उसमें बराबर-बराबर दो चौकियाँ रखी हुई थीं। दोनों पर दो अध-मैले या अध-उजले कपड़े—जिनमें से एक अपनी आश्रित चौकी के ऊपरी भाग को पूरा न ढँक सकता था—बिछे थे। इनमें से एक चौकी पर एक फ़ोटो-कैमरा—काले कपड़े से अध-ढँका—और उसी के सम्बन्ध में कुछ और सामान थे, और दूसरी पर लिखने-पढ़ने का सामान—काग़ज़, क़लम, दवात,—रँगों की प्यालियाँ, पेन्सिल, कूँची और गोल मुड़ा हुआ कुछ ड्राइँग-पेपर रखा था। इसी चौकी को छूने की कोशिश

करता हुआ एक टीन का ट्रङ्क—जिसका रङ्ग-रोग़न बिल्कुल ताज़ा मालूम होता था, पर जिस पर गर्द जमी हुई थी—रखा था। इसी ट्रङ्क के सामने—चूल्हे से ज़रा हटकर—बान की चारपाई पर संक्षिप्त-से कपड़े ओढ़े-बिछाए मास्टर मुरारीलाल बेहोश पड़े निरन्तर "आँह-ऊँह" कर रहे थे।

सम्पतराय मास्टर साहब के पास गये, नब्ज़ देखी, मालिक-मकान और अन्य उपस्थित-गणों से राय मिलाई और तब पुकारा—"अरे पाँचू रे!"

"जी!" अपनी डरपोक सूरत लिये पाँचू सामने आया।

सम्पतराय ने कहा—"देख, डॉक्टर चन्दूलाल के पास जा—डाकख़ाने के पास—मेरा नाम लेना, और लेआ उन्हें अपने साथ।"

पाँचू ने मालिक की बात ध्यान से सुनी, पर फिर भी सन्देह और प्रश्न की गुञ्जाइश रह-ही गई। उसने डरते-हिचकते पूछा—"उनसे क्या कहूँ?"

सम्पतराय ने कुछ तीखे स्वर में कहा—"अरे, कहना क्या है—जाकर बुलाला। मेरा नाम लेना—कि उन्होंने बुलाया है। जा जल्दी, देखें कितनी जल्दी लौटता है!"

मास्टर साहब का शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था। सम्पतराय ने चौकी के नीचे से पङ्खा निकाल कर धीरे-धीरे झलना शुरू किया। बसन्ती ने लपक कर पङ्खा उनके हाथ से ले लिया।

सम्पतराय फिर मुस्कुराये, पर न उन्होंने अपना भाव प्रकट-ही किया, न बसन्ती के कार्य का विरोध।

कई आदमी कमरे से बाहर चले गये—कमरे के ऊमस से घबरा कर। सम्पतराय, मालिक-मकान और एक अन्य सज्जन वहीं चटाई बिछा कर बैठ गये।

सम्पतराय ने मालिक-मकान को लक्ष्य कर कहा—"क्या करते हैं, ये मास्टर साहब?—बड़े एकान्त-प्रिय जान पड़ते हैं!"

मालिक-मकान ने कहा—"हाँ, बेचारा बड़ा सीधा-सादा लड़का है। दो-तीन महीने इसे हमारे मकान में आये हुए—परन्तु किसी पड़ौसी तक को इससे शिकायत का मौक़ा नहीं मिला। अपना-तो-अपना दूसरे-तक का काम-काज करने को सदा तत्पर रहता है। देखिये, पाख़ाने में सभी जाते हैं, पर जहाँ भङ्गिन ने आवाज़ दी, झट जाकर पानी भर-भर कर पाख़ाना साफ़ करा देता है। नल पर नहाने या पानी भरने में आज तक किसी

से झगड़ा नहीं किया—सब से पहले चुपचाप नहा-धोकर निबट जाता है। रात को किसी को दर्वाज़ा खोलने के लिये तङ्ग नहीं करता; कभी आठ बजे के बाद घर से बाहर नहीं रहा।"

सम्पतराय ने पूरी दिलचस्पी से मालिक-मकान की बातें सुनीं और कहा—"पर यह काम क्या करते हैं—शायद फ़ोटो-ग्राफ़री?"

"सा'ब बात यह है," मालिक-मकान ने इधर-उधर करके कहा—"मुझे यह शख़्स इतना पसन्द आया और इसके गम्भीर और सीधे स्वभाव पर मेरी ऐसी श्रद्धा हुई कि न मैं ने इस पर कभी कुछ सन्देह किया, और न इसके विषय में कुछ पूछ-ताछ की। पर हाँ, तीसरे-चौथे इसे कैमरा लेकर जाते तो देखा है, शायद फ़ोटो-ग्राफ़री-ही इसका पेशा हो।"

सम्पतराय ने कहा—"और ये लड़कों को भी तो पढ़ाते हैं?"

मालिक-मकान ने जल्दी-से कहा—"तो उससे इन्हें किसी प्रकार की आमदनी थोड़ा-ही होती है; लड़कों को तो यह मुफ़्त-ही पढ़ाता है।......उन्हीं लड़कों के कहने से तो मुझे पता चला कि दो-तीन दिन से बैठक बन्द

है, और भीतर से हाय-हाय की आवाज़ आ रही है, वग़ैरा-वग़ैरा।"

सम्पतराय ने प्रश्न किया—"तो क्या आपको तीन दिन तक इन्हें न देखकर भी इनके विषय में जिज्ञासा न हुई?"

मालिक-मकान ने जल्दी-से सफ़ाई दी—"भाई सा'ब, बात यह है, मैं पहले-ही कह चुका हूँ, यह महा-गम्भीर है। कई बार ऐसा मौक़ा आ चुका है कि तीन-तीन, चार-चार दिन इसकी सूरत दिखाई न देती थी। इसके सभी काम इतने नियम-बद्ध, अप्रकट और स्तब्ध थे, कि किसी को इसके विषय में अधिक जानने की इच्छा न होती थी. और न ही यह किसी से अधिक मेल-जोल रखने का आदी था। इसका जीवन मुझे भी सचमुच बड़ा रहस्य-मय जान पड़ने लगा है।"

अचानक मास्टर साहब ने करवट बदली और क्षीण स्वर में पुकारा—"पानी!"

सम्पतराय ने मालिक-मकान की तरफ़ देखा। वे पानी लाने के लिये खड़े भी हुए, पर इतने समय में बसन्ती पङ्खा रखकर फुर्ती-से कमरे के बाहर निकल गयी। बिना मुँह फिराये कहती गई—"आप कष्ट न करें, मैं अभी लाती हूँ।"

बसन्ती का सभी गली की स्त्रियों से सान्निध्य था। ऊपर जाकर वह जल्द-ही पानी का लोटा और एक ग्लास लिये लौट आई। सम्पतराय इस बार अपने भाव को न छिपा सके और उन्होंने स्नेह-पूर्ण, हास्य-पूर्ण, रहस्य-पूर्ण नज़र बसन्ती की नज़रों से मिलाई। बसन्ती उन का भाव पढ़कर बड़ी कटी। उसने पानी का लोटा और गिलास सम्पतराय के पास लाकर रख दिया, और इस पसा-पेश में पड़ी कि पङ्खा पुनः उठाऊँ, अथवा नहीं।

परन्तु—

आज पाँचू की अभूत-पूर्व फुर्ती ने बसन्ती की लाज रखली। ठीक इसी समय डॉक्टर चन्दूलाल को साथ लिये उसने कमरे में प्रवेश किया और सबका ध्यान उधर-ही आकृष्ट हो गया।

डॉक्टर साहब के साथ-ही बाहर गये हुए सज्जन भी भीतर आगये। डॉक्टर साहब ने साहब-सलामत के बाद रोगी की परीक्षा की, और अपने सामने दवाई तैयार कराकर पाँच-पाँच मिनट के बाद तीन बार पिलायी। दवा बसन्ती ने-ही तैयार की थी—पर सम्पतराय के अनुरोध पर—इसे कहने की आवश्यकता है या नहीं?

थोड़ी देर बाद मास्टर साहब ने आकुलता से इधर-उधर करवट बदल कर आँखें खोल दीं। कई बार आँखें बन्द कीं और खोलीं, फिर सिर इधर-उधर फिरा कर आश्चर्य से अपने आस-पास देखा और प्रत्येक उपस्थित जन पर प्रश्न-सूचक, कमज़ोर, दीन दृष्टि डाली। सम्पतराय ने देखा—आँखें लाल हो रही थीं, सूरत घबड़ाई-सी बनी थी।

बात शुरू कैसे हो?—सम्पतराय यही सोच रहे थे, कि डॉक्टर ने रोगी से प्रश्न किया—"आपको छाती में ठण्डक मालूम हो रही है?"

मास्टर साहब ने धीरे-से आँख उठाकर डॉक्टर को देखा और फिर बहुत धीरे-से सिर हिलाकर 'हाँ' में उत्तर दिया।

डॉक्टर चन्दूलाल ने सम्पतराय से कहा—"मैं अब जाता हूँ। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट बाद यह दवा इसी मात्रा में इन्हें दी जानी चाहिये। घबराने की कोई बात नहीं है। शाम तक इनकी तबियत बिलकुल साफ़ हो जायगी। शाम को मुझे इनकी हालत की सूचना मिल जानी चाहिये।"

फ़ीस के आठ रुपये जाते-ही सम्पतराय के हिसाब

में लिखवाने की बात सोचते हुए डॉक्टर साहब बिदा हुए।

बसन्ती पङ्खा झलने लगी। मास्टर साहब ने हाथ उठाकर रोका। सम्पतराय ने पास जाकर कहा—"क्यों भई, कैसी तबियत है आप की ?"

रोगी बड़े सङ्कट में पड़ा। वह जानता था—सम्पत-राय गण्य-मान्य व्यक्ति हैं। बिना परिचय उनका अपने पास आना और बिना-सान्निध्य उनका ऐसा व्यवहार उसे बड़ा चमत्कार-पूर्ण प्रतीत हुआ। उसने क्षीण स्वर में उत्तर दिया—"तबियत ख़राब है।"

फिर दस सेकण्ड ठहर कर उसने कहा—"आप लोगों को बड़ा कष्ट हुआ !"

सम्पतराय ने कहा—"कष्ट क्या, भाई, यह तो मनुष्यत्व है।"

और लोगों ने भी लगभग ऐसी-ही शिष्टाचार-पूर्ण बात कही।

मास्टर साहब अधिक बोलने में अशक्त थे। दोनों हाथ जोड़े, और आँखें झपका लीं। इस साधारण रीति से हाथ जोड़ कर-ही उसने अपने आन्तरिक धन्यवाद का परिचय दे दिया।

पाँचू डॉक्टर चन्दूलाल को ताँगे तक पहुँचा कर लौट आया। सम्पतराय ने कुछ ठहर कर, उसकी तरफ़ देखकर कहा—"पाँचू! तुम यहाँ ठहर कर इन पर पङ्खा झलते रहो। मैं घण्टे-भर बाद आऊँगा।"

मास्टर साहब ने आँखें खोलीं और कहा—"आप इतना कष्ट न करें। इन (पाँचू) को भी ले जायें। आपने मुझ पर बड़ी दया की।"

पर सम्पतराय न माने। उन्होंने पाँचू को वहीं छोड़ दिया और सब-के-सब कमरे से बाहर जाने को उद्यत हुए।

"पाँचू!" बसन्ती चलते-चलते कहा—"पन्द्रह मिनट बाद एक चम्मच दवा इन्हें पिलाते रहना।"

बसन्ती यह कह कर जल्दी-से कमरे के बाहर की तरफ़ चली; क्योंकि वह सम्पतराय की आँखों-आगे नहीं पड़ना चाहती थी।

सम्पतराय धीरे-से हँसे, और उसे पुकारा।

वह लाचार होकर उनके सामने आई। सम्पतराय ने अपना भाव छिपाकर—गम्भीर बन कर—उससे कहा—"तुमने खूब याद दिलाई। देखो, दवा देना पाँचू के बस का नहीं है। तुम कुछ देर यहाँ ठहर कर मास्टर

साहब का उपचार कर सको तो बड़ा अच्छा हो।"

बसन्ती ने सिर झुका लिया, और कहने लगी—"मुझे जाकर अभी भोजन बनाना है।........"

सम्पतराय ने कहा—"अभी बहुत वक्त है, थोड़ी देर में चली आना।"

ये बातें इतनी धीरे-धीरे हुईं कि मास्टर साहब उन्हें न सुन सके और सबके बाद उन्होंने जब आँख खोली तो चम्मच और दवा का पात्र हाथ में लिये उसी युवती को अपने ऊपर झुके हुए देखा। वही युवती,—पिछले तीन महीने में जिसे देख कर उनके मन में बड़ी जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी, और जो उन्हें अपने जीवन से अनुराग रखती जान पड़ी थी!

४

बसन्ती

जब गाँव में कोई सगा न रहा—सब राम के घर चले गये—तो माँ-बेटी शहर में आईं। शहर में दूर के एक सम्बन्धी थे। उन्हीं के आशा दिलाने पर और उन्हीं के बल-भरोसे पर पहले-पहल दोनों ने शहर में पदार्पण किया। पर चौबीस घण्टे में-ही उन सम्बन्धी की आँखें

फैली हुई, मुँह फूला हुआ, और नाक चढ़ी हुई देखी, तो बसन्ती की माँ की समझ में शहर-वालों की तोता-चश्मी का रहस्य आगया। गाँव से अपने सम्बन्ध को दो-टूक कर आई थी, अब न वहाँ उसका घर था, न जायदाद, न सहारा, न आशा। सम्बन्धी-महोदय की यह अन्य-मनस्कता उससे न देखी गई, न वह अपमान उसने सहा, और दूसरे-ही दिन उसने अपने लिये एक किराये का घर तलाश कर लिया। सम्बन्धी-महोदय ने घर तलाश कर लिया। सम्बन्धी-महोदय ने घर तलाश करने में पूरी मदद देकर अपने सौजन्य का परिचय दिया!

रामकली—बसन्ती की माँ—के पास कुछ गहने थे—एक-डेढ़ हज़ार रुपये के। पर यह उन्हें अपना नहीं समझती थी। उसके पास वे बेटी—बसन्ती—के थाती-स्वरूप थे। जिन सम्बन्धी-महोदय के घर में उसे पच्चीसवें घण्टे में आश्रय न मिल सका, वे गाँव जाकर उसे तसल्ली दे आये थे—और दे आये थे शहर में आने पर सहायता का वचन, पर इसे वे केवल शिष्टाचार समझते थे, वर्ना इन फटे-हाल, भुख-मरी माँ-बेटियों पर अपनी दया का ख़ज़ाना ख़ाली करने की उन्हें क्या ज़रूरत थी? पर इतना निश्चय है, कि उन्हें रामकली के पास हज़ार-डेढ़

हज़ार के ज़ेवर होने का अनुमान तक न था, नहीं तो—नहीं तो क्या वह बेचारी इस प्रकार खदेड़ी जाती—नफ़रत के साथ ?

बसन्ती उस समय थी—ग्यारह वर्ष की। पर उठान उसका अच्छा था। गाँव की धूल-मिट्टी में छिपा हुआ उसका रूप शहर के पानी—'फ़िल्टर्ड-वाटर'—से छूते-ही निखर कर खिल उठा, जैसे टोकरे की घास-पत्तियों से सने हुए मोतिया अङ्कुर पानी का छींटा लगते-ही चम-चम करने लगते हैं! निश्चिन्त दिन-चर्य्या और लगभग स्वच्छन्द नागरिक जीवन ने उसके उभार, उठान और सौन्दर्य्य-वृद्धि में विचारणीय सहायता प्रदान की। बूढ़ी माँ ने अपनी निधि के विकास को देखा—एक आँख में हास्य भर कर, और दूसरी में चिन्ता और भय! हास्य क्षणिक था, और चिन्ता और भय स्थायी।

और अब उसने वर की खोज में दौड़-धूप शुरू की।

यह विधवा अनाथा भी उसी जैन-धर्म से सम्बन्ध रखती थी, जिसकी व्याख्या पहले कभी की जा चुकी है। दस-लक्खी इस संक्षिप्त धर्म में एक लाख तेतालीस हज़ार विधवाएँ होते हुए भी अभागिनी लड़कियों की जैसी बाढ़ है, वह सचमुच आश्चर्य्य में डाल देने वाली

है। लड़के-वालों और खुद लड़कों के जो दिमाग़ हैं, उनकी कल्पना या व्याख्या करना इस ग़रीब लेखक के बस का नहीं। शहर में 'अच्छे लड़कों' का जो ऊँचा दर है, उसे सुनकर बेचारे साधारण स्थिति के बेटी-वाले वर में सब-से पहले 'साधारण स्थिति'-नामक एक मौलिक गुण (quality) की खोज करते हैं, क्योंकि बढ़िया वर के लिये कोशिश करके और पीछे दहेज़ में या 'छूनों' में मोटर-गाड़ी या किसी छोटी हवेली का सवाल (Demand) सुनकर वे निराश होना नहीं चाहते। भला कोई बात है—बेटी का होना कितना बड़ा पाप है! हे भगवान—अगर तुम हो—तो संसार की—जैन समाज की—लड़कियों को नष्ट कर दो, और एक बार संसार को 'लड़का-मय' अथवा 'पुरुष-मय' बना कर देखो तो सही, बड़ा मज़ा आयगा, सृष्टि-रचना से बहुत अधिक!

ख़ैर—इस 'परोपदेशे-पण्डित' लेखक को न भगवान से गर्ज़ है, न उसके पुरुष-मय, या स्त्री-मय, या—या हीजड़े-मय संसार से। न इसने भारतवर्ष के सुधार का बीड़ा उठाया है, और न रोगी मरणासन्न, 'गलित-नख-नयना' जैन-समाज के इस कोढ़-में-खाज

अत्याचार की—क़लम-कुल्हाड़ा चला-चला कर—हिंसा करने का इरादा! उससे मतलब है—अपनी कल्पना की दो बेटियों—बसन्ती और उसकी माँ—से।

हाँ तो, बसन्ती की माँ ने योग्य वर की तलाश की। एक वर ख़ूब पसन्द आया। अपने एक हित-चिन्तक—जो उस गली में पैदा होगये थे—से कहा, तो वे हँसकर चुप होगये, फिर उन्होंने बताया, समझाया—"माई! तुम अपना शरीर बेंचकर भी अपनी कन्या उस लड़के को देने का साहस मत करो।"

माँ ने समझा, फिर भी सन्देह दूर न हुआ। पूछ-ताछ कराई। मालूम हुआ—उन लोगों को जन्म-पत्री देना भी मन्ज़ूर नहीं है इस अभागिनी को। दुखिया ने हाय मारी—जी मसोस कर रह गई!

फिर एक और लड़का देखा—पहले से एक इञ्च नीचे। उससे भी बात करने की हिम्मत न हुई। और नीचे उतरी—एक इञ्च, दो इञ्च—तीन इञ्च। बस, इसमें बात-चीत चलाने में उसने कोई बाधा कोई हानि न देखी।

"शर्त्त यह है," उसके प्रस्ताव के उत्तर में लड़के वाले ने मांछों पर हाथ फेरते हुए निर्लज्जता-पूर्वक कहा—

"दो सौ बराती होंगे कम से कम—तीन-सौ भी हो सकते हैं—हमारी रिश्तेदारी मकड़ी के जाले की तरह फैली हुई है सारे शहर में। उनको तीन पक्की और दो कच्ची रोटियाँ देनी होंगी, इज़्ज़त-हुर्मत की।"

"स्वीकार है!" बसन्ती की माँ ने हिम्मत करके कहा।

"पाँच-सौ-एक रुपये विदा के प्याले में डालने होंगे।"

"अच्छा।" बसन्ती की माँ ने अपनी सम्पत्ति का अनुमान लगाते हुए कहा।

"सब बरातियों को एक-एक कटोरा और एक-एक रुपया देना होगा।"

बसन्ती की माँ के होश हवा होगये। फिर भी गला साफ़ करके बोली- "और······?"

"बस, और कुछ नहीं," क्रूरतापूर्वक कहा गया— "एक हज़ार पत्तल बाँटने के लिये और सौ रुपये हमारे मुहल्ले के मन्दिर में देने होंगे। बस, और जो कुछ करो, अपनी इज़्ज़त के लिये, हमें उसमें कोई एतराज़ नहीं।"

बसन्ती की माँ ने शर्तें सुनीं और दम रोक कर चली आई—न मुँह से एक शब्द कहा, और न घर आकर रोई। केवल एक बार हारी हुई नज़र बेटी के सूखे

स-प्रभ मुँह पर डाली, और लम्बी साँस लेकर काम में लग गई।

इसके बाद एक लड़का और देखा गया। सोलह रुपये का मिस्त्री था--बिजली-घर में, पर रङ्ग-रूप का अच्छा था। शायद छठी-सातवीं कलास तक अँग्रेज़ी भी पढ़ा था। आपने लड़की देखने की इच्छा प्रकट की। युवकों में यह शौक़ीनी—पाश्चात्य सभ्यता के ज़रा-से अंश की नक़ल—इन दिनों बे-तरह चर्राई है। माँ-बाप को ये समझते हैं दुश्मन—इन मामलों में—और अपने आप को सौन्दर्य-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित, अथवा रूप-रत्न का परम पारखी! अस्तु—लाचार होकर दुःखिनी बसन्ती की माँ ने यह भी स्वीकार किया और दुल्हेराम आये—माँगे हुए कोट-पैण्ट में, बालों में तेल बहा कर और नीचा सिर किये बैठी हुई सलज्जा बसन्ती को घूर कर देखकर, सास से कहँसर बात बनाकर, पान चबा कर, खाना खाकर विदा हुए।

बसन्ती की माँ ने इसी में सन्तोष किया। पर यह सम्बन्ध भी अस्वीकार हुआ, जब बसन्ती ने रोकर, सहम कर, हिचकिचा कर, शर्माकर, उससे विवाह करने की अपेक्षा कुँआरी रहना पसन्द किया। जब कारण पूछा गया

तो उसने बताया कि मेले-ठेले में, राह-बाट में, मन्दिर-डेरे में—हर जगह—जहाँ कहीं 'वह' उसे देख लेता है—खुद बुरे-बुरे इशारे करता है और अपने साथ वाले गुण्डे साथियों को वैसा करने को उत्साहित करता है। माँ से बेटी की यह साश्रु-प्रार्थना अस्वीकृत न की गई।

पर बेटा चाहे लखपती का कुँआरा रह जाय, बेटी तो कङ्गाल की भी ब्याही-ही जायेगी;—वर तो ढूँढ़ना था-ही। बसन्ती की माँ ने खोज जारी रखी।

अचानक उसकी नज़र एक स्वस्थ, सुन्दर लड़के पर पड़ी। वह रोज़ मन्दिर में आता था। दुखिया ने उसी के विषय में डरते हुए—क्योंकि लड़का उसकी समझ में बहुत ऊँचे Standard का था—पूछ-ताछ शुरू की। लड़का पचास रुपये का नौकर था—एक प्रेस में, और अकेला था। बसन्ती की माँ उछल पड़ी, पर उस का जोश दूध के झाग की तरह बैठ गया—जब उसने सुना—लड़का द···रु···सा है!

एक दिन उसके उन्हीं सजातीय हित-चिन्तक ने एक घर का पता दिया। कहा—"वहाँ विवाह होने की पूरी आशा है। कई लाख की जायदाद है। तुम्हारी लड़की राज भोगेगी······।"

यहाँ तक सुनकर तो बसन्ती की माँ की खुशी क्रमशः बढ़ती गई, पर इससे आगे वह उसी क्रम से—बल्कि उससे भी अधिक तेज़ी से—घट भी गई—

"वर का चौथा या पाँचवाँ विवाह है, चालीस वर्ष की उम्र है, तीन लड़के और दो पोते हैं।"

बसन्ती की माँ उदास होगई। हितचिन्तक-महोदय सोचने के लिए कह कर चले गये।

अभागिनी ने खूब सोचा—खूब विचारा—घुमा-फिराकर। और संक्षेप में कहना यही है, कि दो महीने बाद-ही खिज़ाब-पाउडर से पुते हुए उस पचपन वर्ष के जीर्ण-शीर्ण बूढ़े के साथ उसने अपनी तेरह वर्ष की इकलौती अबोध कन्या का गठ-बन्धन कर वैसी-ही सन्तोष और दुःख से मिली हुई साँस ली, जैसी कड़वी दवा पी कर ऊपर से इलायची खा लेने वाला रोगी अच्छी-बुरी—दुमेली—डकार लेता है।

हा !!!

परिणाम इसका क्या हुआ?—वही जो सदा से होता आया है, सदा-ही होगा, सदा से जिसे पुस्तकों में पढ़ते, लेक्चरों में सुनते और आँखों से देखते आये हैं। अर्थात्, विवाह के एक-डेढ़ वर्ष बाद-ही अपनी नव-

विवाहित—अबोध, असन्तुष्ट, अभागिनी—पत्नी को मर्मान्तक पीड़ा से बिलखते हुए छोड़ कर उस नपुंसक, व्यभिचारी और धर्म-द्रोही—पाप के भाई—ने अत्यन्त कष्ट में अपना प्राण-त्याग किया !!

बसन्ती रोई, और खूब रोई—क्यों कि उसने और सब को रोता देखा। अनेक पत्थर-हृदयों ने बेचारी के रुदन की हँसी उड़ाई—"हूँ ! कैसी रो रही है ! बड़ा सुख मिला था न इसे बूढ़े से !" बहुतेरों ने इसकी अवस्था पर हाथ मल-मल कर हाय-हाय भी की। पर इससे होना-ही क्या था ?

पर सब के बाद—लोगों को इस बात का निश्चय कर के सन्तोष था कि इज़्ज़त के साथ उम्र काटना चाहे, तो खाने-पीने की उसे कुछ कमी नहीं है।

एकाध ने कहा भी—"भाई ! सौत के बेटे हैं; हम तो कहते हैं, बेचारी को शान्तिपूर्वक सारी उम्र रोटी दे दें, तो बड़ी बात है।"

"अरे रे ! ऐसा हो सकता है ! कैसी बात कहते हो !" इत्यादि-इत्यादि कह कर ऐसा सन्देह प्रकट-कर्त्ताओं की बात दबा दी गई।

पर यह सन्देह अन्त में सत्य साबित हुआ।

भारत में अङ्गरेज़ी राज्य स्थापित होने पर फ़िरङ्गियों ने भारत के सभी सम्प्रदायों से उनके क़ानून-धर्म-ग्रन्थ माँगे—उनके दीवानी, दायभाग—इत्यादि क़ानून की रचना के लिये। कूप-मण्डूक जैनी-लोग अपने शास्त्रों को उसी प्रकार गोद में छिपाकर रखना चाहते थे जैसे बँदरिया अपने नवजात शिशु को। भला वे यह कैसे बर्दाश्त कर सकते थे कि उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ शूद्र या यवन या फ़िरङ्गी के अपवित्र हाथों में जाकर अपनी पवित्रता को तिलाञ्जलि दें। उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थ देने से इन्कार-ही नहीं कर दिया, बल्कि बताया कि उनका क़ानून-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ है-ही नहीं। जैन-धर्म उस समय बुद्ध-धर्म या हिन्दू-धर्म की एक शाखा-मात्र समझा जाता था, अतएव विशाल देश के नियन्त्रण की जल्दी में फिरङ्गियों ने जैन-क़ानून की ऐसी चिन्ता न की, और जैनियों को हिन्दू-क़ानून के अन्तर्गत-ही रखा। अब जैन-क़ानून भी प्रकाश में आया है। हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में छोटे-छोटे अनेक अन्तर होने के सिवा जैन-लॉ में दाय-भाग के सम्बन्ध में एक बड़ी ज़बर्दस्त और महत्वपूर्ण बात पर विरोध है। वह है—किसी आदमी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का विवेचन; कौन

उसके धन का अधिकारी हो—स्त्री या पुत्र? जैन-लॉ में स्त्री का उत्तराधिकारी बताया गया है और हिन्दु लॉ में पुत्रों को। नतीजा इसका यही होता है कि पति-विहीना स्त्री बेचारी बड़ी दुर्दशा को प्राप्त होती है। हिन्दू-लॉ की दासता में बँधे हुए इस जैन-कुटुम्ब में भी यही हुआ। अर्थात्—

पति की मृत्यु के तीन वर्ष बाद—भरी-जवानी में—ऊबकर, दुःखी होकर, मजबूर होकर बसन्ती पति के घर से निकल कर अपनी माँ के पास चली गई। माँ के पास रह-ही क्या गया था?—तो भी उसने उसी उत्साह-से बेटी को लिया और बड़े कष्ट से दोनों गुज़ारा करने लगीं। बसन्ती का सुकुमार शरीर घोर कष्ट में तपने लगा, पर जवान बेटों की मार, गाली और नीच भर्त्सना के आगे—और हाँ, बड़े बेटे के नीचता-पूर्ण, निर्लज्ज, अश्लील प्रस्ताव के आगे—उसने इस दुःख को ज़रा न गरदाना।

पर हाय! चार-पाँच महीने बाद-ही उसकी माँ भी चल बसी। अब बेचारी निःसहाय हो गई। सोचने लगी—अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ?—कि इसी समय उसके शुभ-कर्मों के उदय से समाज-सुधार में, दीन-दुखियों की सहायता में जी-जान से लगे हुए सम्पतराय

ने सुमित्रा को उसके घर भेजा। सुमित्रा ने बड़े प्रेम से, बड़ी दया से, बड़ी सहानुभूति से उसकी दुःख-गाथा सुनी, और अपने घर चलने को कहा। बसन्ती इस प्रस्ताव को टाल न सकी और इसी समय—तन-तनहा—सुमित्रा के साथ गाडी में बैठ कर उसके घर चली आई।

यहाँ आकर सुख से रहने लगी। अब उसकी असली प्रकृति खुली। वह जितनी पवित्र, सरल और सुन्दरी थी, इतनी-ही चञ्चल थी। सम्पतराय ने उसका व्यवहार बे-तकल्लुफ—भाई-बहन का-सा—था। सम्पत-राय विधवा विवाह के कट्टर पक्षपाती थे, उन्होंने उसकी चञ्चल-प्रकृति देख कर इस विषय में पूछा तो समीचीन उत्तर पाया:—पर बड़ी देर और बहुत समझाने के बाद—कि वह पुनर्विवाह करने को तैयार है।

५

अन्तर्द्वन्द्व

शाम तक सचमुच मास्टर साहब की तबियत बहुत-कुछ साफ़ होगई। सम्पतराय आये, उनकी दशा देखी, फिर पाँचू को रात को उनके पास छोड़ जाने की इच्छा प्रकट की, पर मास्टर साहब ने आग्रहपूर्वक अस्वीकृत कर दिया। सम्पतराय—हारकर—बसन्ती और पाँचू-सहित घर लौटे।

घर पहुँच कर बसन्ती लगी काम में, और सम्पत-राय पाँचू को लेकर बैठके में गये। सुमित्रा भी बैठी थी। सम्पतराय ने जाकर पाँचू से पूछा—"देखो पाँचू! एक बात......... ....।"

पाँचू आज पिछले दो घण्टों में-ही ऐसी दो बेवक़ूफ़ियाँ कर चुका था, जिसपर उसकी खूब हँसी हुई थी, और उसे बड़ी शर्म उठानी पड़ी थी। अतएव वह ध्यान-से मालिक की बात सुनने को तैयार होगया।

"......एक बात पूछता हूँ," सम्पतराय ने कहा—"मगर शर्त यह है कि उसे तुम बसन्ती से न कह बैठना।" उन्होंने दुलारी के प्रति बूढ़े पाँचू का स्नेह या उसकी भक्ति का अनुमान करते हुए कहा।

पाँचू ने कहा—"अच्छा जी।"

सम्पतराय ने गम्भीर स्वर में, रहस्य के साथ, पूछा—"......... अच्छा यह बताओ, इसने—बसन्ती ने—मास्टर साहब को दवा ठीक तौर से—पन्द्रह-पन्द्रह मिनट बाद-ही—दी थी न?"

"जी!" पाँचू ने प्रश्न के साथ-ही उत्तर दिया—"जी हाँ, ठीक तौर-से दी थी—चार-पाँच दफ़ा।"

असल में पाँचू की समझ में सम्पतराय का प्रश्न

आया-ही न था। और ख़ुद सम्पतराय भी अपने प्रश्न में न अपना अभिप्राय व्यक्त कर पाये थे, और न उसमें कोई महत्व अथवा तत्त्व-ही समझते थे। बात यह थी, कि पाँचू को बसन्ती पर बड़ा प्रेम था। सम्पतराय भी इसे जानते थे। अतः उससे वचन लेकर भी—कि वह उनकी बात उससे न कहेगा—उन्हें उस पर विश्वास न हुआ, और वे एकाएक अपने सन्देह को या प्रश्न को खुले रूप में न रख सके। अतः उन्होंने पाँचू को घूर कर देखते हुए मुस्कुराकर एक बार फिर कहा—"देखो, उससे कह तो नहीं दोगे ?"

पाँचू ने आँख झपकाकर दृढ़ता—से कहा—"कभी नहीं !"

"अच्छा, मास्टर साहब से दुलारी की बात भी हुई थी ?" सम्पतराय ने अधिक धीमे स्वर में पूछा।

पाँचू कुछ झिझका। फिर सम्हल कर कहने लगा—"हाँ हुई तो थीं, कोई मुँह थोड़ा-ही बाँध रखा था ?"

सम्पतराय ने कहा—"क्या बातें हुई थीं ?"

पाँचू ने अपनी झुकी हुई कमर को सीधा करने का प्रयत्न करते हुए कहा—"कोई याद रखने-लायक़ बात तो हुई नहीं; यही दवा-दवा पीने के विषय में।"

सम्पतराय ने ध्यान-से पाँचू का चेहरा देखा। फिर बोले—"सच कहते हो?"

पाँचू हिचका। फिर कहने लगा—"मालिक, क्यों बुढ़ापे में झूठ बोलने की तुहमत रख रहे हो!"

पर उसकी हिचक ने सम्पतराय के भागते हुए सन्देह को रोक लिया। उन्होंने पाँचू को भेज दिया और सुमित्रा से बोले—"तुम्हारा क्या ख़याल है?—यह झूठ बोला या सच?"

सुमित्रा ने कहा—"हो सकता है, सच-ही बोला हो। मुझे तो ऐसा-ही मालूम होता है।"

सम्पतराय ने कहा—"पर यह एक झूठे आदमी की तरह झिझका क्यों? इससे क्या परिणाम निकाला जा सकता है?"

सुमित्रा ने कहा—"आप तो ख़ाम-ख़ा का मनो-विज्ञान झाड़ा करते हैं! बसन्तो पर आपका यह सन्देह निर्मूल और अनुचित है।"

पर सम्पतराय का सन्देह दूर न हुआ। बल्कि उन्हें तो यहाँ तक ख़याल हुआ कि पाँचू अवश्य उनकी बात सुमित्रा से कह देगा।

× × × ×

तीसरे दिन मास्टर साहब चलने-फिरने योग्य होगये। बीच में सम्पतराय कई बार उनके पास गये। कई बार उन्होंने बसन्ती को भी उनके पास भेजा था—उनका हाल-चाल देखने और उनको दवा-इत्यादि पिलाने। बसन्ती ने बिना-विरोध और बिना-हिचक उनकी आज्ञा का पालन किया—उनकी आज्ञा में व्यङ्ग या छिछोरपन का अभाव समझ कर, यद्यपि उसने समझने में गलती खाई थी। ख़ैर—इससे कम-से-कम सम्पतराय को यह तो विश्वास होगया कि पाँचू ने उनकी बात बसन्ती से कही तो नहीं क्योंकि उस अवस्था में उन्हें अवश्य उसके भाव में एक स्वाभाविक सतर्कता, संकोच और संदेह का आभास मिलता।

तीसरे दिन दिन-ढले उन्होंने पाँचू को मास्टर साहब को बुलाने भेजा। पाँचू वहाँ पहुँचा तो कपड़े-पहिने मास्टर साहब को स्वयं-ही आने को तैयार पाया।

दोनो आदमी साथ-ही लौटे। पाँचू आगे था, मास्टर साहब पीछे। पाँचू तेज़-तेज़ चलता आगे निकल गया—बैठक में घुस गया। मास्टर साहब—नये-घर और दुर्बल शरीर के कारण—धीरे-धीरे चल रहे थे—ज़ीने के ऊपरी दर्वाज़े तक-ही तब तक पहुँचने पाये। उन्होंने पाँचू

को जिस कमरे में—बैठकख़ाने में—घुसते देखा, उसको-ही अपना लक्ष्य बनाया। पर इतने में स्वाभाविक-से-अधिक तेज़ चलती हुई बसन्ती गम्भीर-सा मुँह बनाये उनके आगे से निकल गई। पर उस 'मुँह बनाने' में—'गम्भीरता' में—बहुत कृत्रिमता थी! मास्टर साहब के सामने आकर उसने कई बार उनकी तरफ़ देखने की—चाल को ज़रा धीमी करने की—बहुतेरी चेष्टा की—पर असफल रही—न नज़र-ही घुमा सकी, न चाल धीमी कर सकी। उसे ऐसा मालूम हुआ—मानों पीछे-से कोई शक्ति उसे धकेल रही है, या आगे से कोई शक्ति उसे खींच रही है, और गर्दन पर मानों फ़ालिज पड़गया है, या किसी ने मैस्मेरिज़्म-द्वारा उसकी हिलने-डालने की शक्ति नष्ट कर दी है। हाँ, कनखियों से उसने मास्टर साहब को देखा, और खूब गौर-से देखा। क्या देखा?—उन्होंने उसे सामने देखकर घोर गम्भीरता-पूर्वक—जैसे कोई बड़ा भद्दा या भयावना सीन उनकी आँखों आगे आगया हो—गर्दन झुकाली और आँखें नीची करके बैठक की तरफ़ चले गये।

बसन्ती पर घड़ों पानी पड़ गया! सरासर उसकी पराजय थी! वह झपड़-दपड़ करती—घबराई-सी—

अपने कमरे में घुस गई। वहाँ जाकर खाट पर बैठ गई। बहुत देर तक सोचती रही। क्या सोचा—यह बताने से तो लाभ नहीं, हाँ दस-पन्द्रह मिनट बाद इस चिन्ता का जो परिणाम हुआ, वह यह था कि उसने साफ़-स्वच्छ दो ग्लासों में, छानकर, शर्बत तैयार किया और लेकर बैठकखाने की तरफ़ चली। मतलब यह है, कि मास्टर साहब के भाव को उसने अपना सन्देह समझा और वह तैयार होगई—एक बार फिर उनके सामने आने और उनके हृदय को टटोलने के लिये!

बैठकखाने में सम्पतराय और मास्टर साहब आमने-सामने बैठे थे। बसन्ती की पहली नज़र—दर्वाज़े में घुसते-ही—मास्टर साहब पर पड़ी, यह विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है, पर उसने अपनी नज़र एक क्षण से भी कम समय में उन पर से हटाकर सम्पतराय पर फैलादी, और पहले उन्हीं की तरफ़ जाकर ग्लास उन्हें दिया।

सम्पतराय ने, शिष्टाचार-से, मास्टर साहब की ओर संकेत कर कहा—"आपको दो।" उन्होंने भी वैसे-ही शिष्टाचार-से कहा—"नहीं, पीजिये आप।"

सम्पतराय प्यासे थे। उन्होंने बिना अधिक तकल्लुफ़ दिखाये ग्लास लेकर मुँह से लगा लिया—यह सोच-

कर कि यह दूसरा तो मास्टर साहब ले-ही लेंगे। बसन्ती का भी ऐसा-ही विश्वास था। पर अब उसने दूसरा ग्लास मास्टर साहब के सामने बढ़ाया, तो उन्होंने गम्भीरतापूर्वक—बल्कि कुछ ग्लानि-सी महसूस करते हुए—कहा—"नहीं, मुझे नहीं चाहिये।"

बसन्ती का चेहरा क्या लज्जा-से लाल था—क्या एक-दम पीला पड़ गया! उसने न सम्पतराय का ख़ाली किया हुआ ग्लास लेने के लिये प्रतीक्षा की, न मास्टर साहब से सम्पतराय के एकाध बार अनुरोध करने की। शर्बत का ग्लास उसके हाथ से छूटने को होगया, पर उसने बड़ा जब्त करके—दूसरा हाथ पेंदी में लगा कर—ग्लास थाम लिया और तेज़ी के साथ एक-दम बैठक से बाहर होगई।

यह घोरतर पराजय थी!!

उसी तेज़ी-से चलती हुई वह रसोई-घर में पहुँची, शर्बत से भरा हुआ ग्लास मोरी पर पटक दिया। फिर एक मिनट ठहर कर झट बाहर निकली और अपने छोटे कमरे में घुस गई। खाट पर बैठ गई। फिर लेट गई। फिर बिछौने में मुँह छिपा लिया और आँसू उसकी आँखों से ज़बर्दस्ती निकलने लगे।

रोना उसका लम्बा नहीं हुआ—जल्द-ही ख़त्म हो

गया। वह उठ बैठी, कुछ सोच, फिर कमरे से बाहर निकली। सामने-ही पाँचू मिल गया। झट मुँह फेर कर उसने हथेलियों से आँखें मलीं और गाल मले, जिससे आँसुओं का — रोने का — कोई चिन्ह चेहरे पर न रह जाय। फिर धीरे-से खखारी, जिससे रोने के कारण उत्पन्न हुआ गाद्गद्य नष्ट हो जाय। और तब उसने पुकारा—
"पाँचू रे! ओरे पाँचू!"

इस प्यार के—अभ्यस्त—सम्बोधन से इस वक्त बसन्ती को कोई खुशी न हुई—हृदय में हुलस पैदा नहीं हुई, जो और समय होती थी—पर इतनी बुद्धिमान् वह थी कि उसने किसी आदरणीय—मौलिक—सम्बोधन पर बुड्ढे—स्नेह-मय—पाँचू के सन्दिग्ध होजाने का अनुमान सहज-ही में कर लिया। बस, इसलिये उसने पाँचू को पुकारने में उसके चिर-परिचित सम्बोधन का-ही प्रयोग किया।

हाँ तो, पाँचू अपनी मालिका, बेटी, स्नेहाधिकारिणी, भक्ति करने की चीज़ का वाहियात—परन्तु अपने कानों को स्वादिष्ट लगने वाला—सम्बोधन सुन कर हँसता हुआ उसकी ओर चला। असल में, पहले-पहल पाँचू की प्रार्थनानुसार-ही बसन्ती ने इस तरह उसे पुकारना शुरू किया

था, और पीछे तो उसे आदत-ही पड़ गई। पाँचू की एक लड़की थी—बड़ी स्नेह-पूर्ण। उसकी शकल बसन्ती से हू-ब-हू मिलती थी। पर यह पाँचू का कथन है। अगर सन्तान के विषय में एक पिता का कथन आपको मान्य हो सके तो उसकी बात सच हो सकती है। हाँ तो, वह लड़की बड़ी स्नेह-पूर्ण थी—जान देती थी पिता पर—पर साथ-ही बड़ी मुँह-फट, बड़ी उद्दण्ड और बड़ी हठीली थी। वह लड़की-ही पाँचू का कुटुम्ब था। वह रोटी दाँत से काटते हुए—नङ्गे-सिर—पाँचू को बड़े ज़ोर-से आवाज़ देती थी—जब कभी उसे बाप की आवश्यकता होती—"पाँचू रे! ओ पाँचू काका..आ!!" उस लड़की का ब्याह हुआ। फिर उसका पति मर गया। थोड़े दिनों के बाद वह खुद भी बेचारी चलती हुई। बस, अपनी उसी स्नेह-मयी की मूरत का सादृश्य बसन्ती में देखकर वह उस पर एक-दम अपने इस सञ्चित स्नेह को उँडेल बैठा। इसी लिए उसने बसन्ती से वह वाहियात सम्बोधन प्रयोग करने की प्रार्थना की थी, और यही उसके स्नेह का रहस्य था।

ख़ैर—जब पाँचू पास आ खड़ा हुआ तो बसन्ती ने उसे बिना और कुछ कहे एक-दम हुक्म दिया—"देख रे

पाँचू, मैं अपने कमरे में जाकर सोती हूँ, तू साँकल बाहर से चढ़ादे।"

बसन्ती के इस अनोखे 'ऑर्डर' ने पाँचू को बड़े अचरज में डाल दिया, और बिना कान-पूँछ हिलाये 'धर्म की बेटी' की प्रत्येक आज्ञा का पालन कर देने-वाली उसकी बुड्ढी मनो-वृत्ति में भी जिज्ञासा का प्रादुर्भाव हो-ही गया। उसने सहम कर, रुक कर पूछा-"ऐसा!—क्यों?"

बसन्ती तो एक-दम उबल पड़ी! बोली—बड़े क्रोध और बड़े रोष के साथ—"तू पूछने वाला कौन होता है? तुझ से जैसा कहा—वैसा करना हो कर—नहीं भाग जा! समझा?—सुनता है?"

बसन्ती यह कह कर खाट पर जा बैठी—सोने का उपक्रम करने लगी। पाँचू ने देखा। फिर आगे बढ़ा—और आकर दर्वाज़े के पास खड़ा हो गया। हिम्मत करके बोला—"किवाड़ बन्द कर दूँ?"

बसन्ती ने छूटते-ही गर्जकर कहा-"हाँ, कहा तो तुझसे, साँकल लगा जा!"

बस, फिर पाँचू को अधिक बोलने का साहस न हुआ। चुपचाप किवाड़ भेड़कर साँकल लगा दी और जिज्ञासा उसकी सब हज़म हो गई।

बसन्ती उसी-दम उठी। अचानक उसकी निगाह ऊपर वाली खिड़की पर पड़ी—जो ज़ीने की तरफ़ खुलती थी—उसका दरवाज़ा इस समय खुल कर फट-फट कर रहा था। एक बार उसके जी में आया—पुकार कर पाँचू से कह दूँ—"इसे भी बाहर से बन्द कर दे।" पर फिर उसके मन में तर्क ने स्थान ग्रहण किया और उसने सोचा—अगर इसे बन्द करा दूँगी तो हवा नहीं आयगी। और मुझे मास्टर साहबसे ऐसा क्या उन्स है—ऐसा क्या खिचाव है—कि मैं खिड़की-से उसे देखने का कष्ट उठाऊँगी! उसने सोचा—उसमें ऐसी कौन-सी विशेषता लगी है! हुँ! व्यर्थ मैंने अपने आप पर इतना अविश्वास किया! व्यर्थ दर्वाज़ा बन्द कराया। ·········
ख़ैर, अब जब यह मास्टर चला आयगा, तभी यहाँ से निकलूँगी।

वह लेट गई—पर नींद न आई, न उसका मस्तिष्क विचारों से ख़ाली रह सका।

पर हाय! इन्हीं विचारों ने उसकी दृढ़ता को नष्ट कर दिया! एक घण्टे की विचार-शृङ्खला के बाद उसकी यह दशा होगई कि ज़रा आवाज़ होते-ही वह चौंक पड़ती और खिड़की की ओर देखने लगती। क्यों ऐसी

दशा हुई—इसका विवेचन हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

अचानक मास्टर साहब के जूते की आवाज़ आई। सम्पतराय के इस प्रकार—ज़ोर से—बोलने की आवाज़ भी आई—जैसे किसी को बिदा करते वक्त स्वाभाविकतया-ही हो जाती है। बसन्ती का हृदय धड़-धड़ करने करने लगा उसने सारा ज़ोर लगा कर खिड़की की ओर से अपनी आँखें फेर लीं। पर भावों के प्रबल वेग ने उसके मन के सारे संयम, निग्रह, निरोध, दमन के टुकड़े उड़ा दिये और वह झपट कर खिड़की के पास पहुँच गई और फुर्ती से उसका पल्ला खोल लिया।

यह उसकी घोरतम पराजय थी !!!

मास्टर साहब सिर झुकाये ज़ीने की तरफ़ आ रहे थे। खिड़की के पल्ले की आवाज़ ने उन्हें चौंकाया और सिर उठाकर उन्होंने उधर देखा। खिड़की में बसन्ती का मुँह दिखाई दिया। मास्टर साहब ने उस तरफ़ देखकर धीरे-से हँस दिया, और स-हास्य मुख लेकर-ही ज़ीने में पदार्पण किया।

बसन्ती को ऐसा जान पड़ा कि बुरी तरह पराजित होकर भी उसने मास्टर साहब को जीत लिया है !!!

क्या सचमुच ऐसा था ?

६

क्षोभ

पाँच-सात मिनट बाद बसन्ती ने सामने से आते हुए पाँचू को बुलाया। दर्वाज़ा खुलने पर वह बाहर आई और बैठकख़ाने की ओर चली गई। सुमित्रा और सम्पतराय बैठे बात कर रहे थे। बसन्ती बाहर दीवार से चिपक कर उनकी बातें सुनने लगी। इस पाप-रूपी फल में सदुद्देश्य की गिरी थी। उसे आशा थी कि बात

अवश्य मास्टर साहब के विषय में होगी; और सचमुच ऐसा-ही था। सम्पतराय ने कहा—"……नहीं, खुल कर—साफ़ साफ़—तो कुछ भी नहीं सुनाया। पर मालूम ऐसा होता है कि इन्होंने अच्छे दिन देखे हैं, समय के प्रवाह से-ही बेचारे इस गति को प्राप्त हुए हैं।"

सुमित्रा ने कहा—"तुम्हारे पूछने पर भी कुछ न बताया?"

"ना!" सम्पतराय ने कहा—"अव्वल तो किसी की गुप्त बात जानने की इच्छा करना-ही असभ्यता है, और तिस पर वे जिसको गुप्त रख रहे थे, उसे जानने के लिये आग्रह करना तो महा-मूर्खता थी। बस, इतना-ही कहा—'मेरा जीवन सामुद्रिक लहर की तरह नीचे से ऊपर उठा और ऊपर से नीचे गिर गया। न मुझे—जब मेरा उत्थान था—ख़ास खुशी हुई। न—जब पतन हुआ—कोई ख़ास दुःख'।"

सुमित्रा ने उपेक्षा-से कहा—"यह तो बहुत-से कहा करते हैं;—भला अमीरी से ग़रीबी आने पर किसे दुःख नहीं होता?"

सम्पतराय ने कहा—"नहीं, आदमी तो क़ाबिल मालूम होता है। बी. ए. पास है। कल से तुम्हें अंग्रेज़ी

पढ़ाने आयगा।"

सुमित्रा अंग्रेजी पढ़ने के लिये उत्सुक थी, इस लिए उस विषय में कुछ न बोली, पर मास्टर साहब के प्रतिकूल कहने में न चूकी, और बोली—"वाह ! बी.ए.-पास होना इस बात का कारण थोड़ा-ही है, कि अमीरी आने से सुख नहीं हुआ होगा और ग़रीबी आने से दुःख। ....भला धन पाकर कौन प्रसन्न नहीं होता ?"

सम्पतराय ने नाराज़ हो कर कहा—"तुम्हारी कैसी मनोवृत्ति है ? तुम क्या रुपये को-ही सब कुछ समझती हो ? बिना सोचे-समझे व्यर्थ का तर्क ठान रही हो और सरासर एक साधु-आदमी पर कलङ्क लगा रही हो !"

सुमित्रा सहम गई और उस सहम पर पर्दा डालने की ग़र्ज़ से हँसने लगी। फिर हँसते-हँसते पूछा—"अच्छा ! अच्छा !—तुम्हारे इन साधु-महाशय का ब्याह भी हुआ है या नहीं ?"

सम्पतराय ने कहा—"नहीं, कहता था, अभी तो बन्धन से मुक्त हूँ, और हमेशा इसी प्रकार मुक्त रहने की इच्छा है।"

सुमित्रा ने कहा—"अजी ! बस देख लिया ! 'जिस धरती पर मूल का डेरा' होता है; लाला साहब तीन

दिन तक बेहोश पड़े रहे, स्त्री न होने के-ही कारण······ !—हाँ, इनसे यह भी पूछा कि ये किवाड़ बन्द करके क्यों पड़े थे ?"

सम्पतराय ने कहा—"कहते थे—'मुझे कुछ देह टूटती-सी मालूम हुई। सोने की इच्छा हुई। मैं भीतर से किवाड़ बन्द कर सोगया। रात को नींद खुली, तो हाथ-पैर अकड़े हुए थे, जोड़ों में दर्द होरहा था, पेट में आग-सी लग रही थी। अगले दिन शाम तक छटपटाता रहा। उठ न सका। छात्रों ने आवाज़ें दीं तो उत्तर भी मुँह से न निकला। बस फिर मैं बे-होश होगया।' और आगे जो कुछ हुआ, वह तुम्हें पता ही है।"

बसन्ती बाहर खड़ी दोनों का वार्त्तालाप सुन रही थी। इच्छा होने पर भी वह मास्टर साहब के विषय में पूरी बात सुने-बिना हट नहीं सकती थी। डर भी रही थी—भीतर वाले उसे देख न लें। इसी डर के कारण उसके पैर काँपने लगे। अचानक उसका पैर दर्वाज़े पर लटके हुए परदे से छू गया, और लोहे के गज़ में पिरोये हुए पर्दे के छल्ले छन्-से कर उठे। बसन्ती धक-से रह गई, फिर फुर्ती से दर्वाज़े के सामने से गुज़र कर दूसरी तरफ़ जाने लगी। छल्लों की

आवाज़ से भीतर बैठे हुओं का ध्यान भी इधर आकृष्ट हुआ। सुमित्रा ने बसन्ती की एक झलक देखी। पुकार कर कहा—"जीजी! पूरी कब बनेंगी?—देखो, साँझ होने आई।"

जवाब मिला—"अच्छा!"

सुमित्रा ने उक्त बात बिना किसी सन्देह के—निष्कपट भाव-से—कही थी। उसका ख़याल था—बसन्ती इधर-से गुज़र कर जारही होगी, शायद कमरे में आना चाहती होगी; हम दोनों को बैठा देख, लौटी जारही है। पर सम्पतराय ने कुछ और-ही समझा और वे चिन्ता में पड़ गये। सुमित्रा ने उनका मुँह देखकर, कुछ पूछने की भी इच्छा की, पर फिर कुछ सोचकर चुप होरहे।

सन्ध्या को सुमित्रा रसोई में आई—भोजन करने—तो बसन्ती ने बातों-बातों में कहा—"यह कौन हत्या है—ये मास्टर सा···ह···ब?"

सुमित्रा मास्टर साहब के विषय में ऐसे ख़राब शब्दों का प्रयोग करना नहीं चाहती थी, तो भी बोली—"क्या जानें, कहाँ के विद्वान् बनकर आये हैं! न अपनी कुछ बात कहते हैं, न अपने को एक इञ्च नीचा करना चाहते

हैं। तुम्हारे भाई साहब कहते थे—बी० ए०-पास हैं। क्या जाने सच है या झूठ ?"

अगर सुमित्रा मास्टर साहब की तारीफ़ करती तो बसन्ती अवश्य उनकी बुराई करती—यह बात निश्चित् है, पर जब सुमित्रा ने उनके विरुद्ध कहा तो उसे उसकी बात में सहयोग देना कैसे पसन्द हो सकता था? वह तो चाहती थी, हम दोनों में से कोई एक मास्टर साहब का पक्षपाती (Defender) रहे—चाहें यह, चाहे मैं। पर यह था क्यों? मास्टर साहब की उसी हँसी के कारण! उसने कहा—"ख़ैर! डिगरी तो—बी० ए०, एम० ए० की ऐसी चीज़ नहीं है कि कोई उसे झूठे-ही अपने नाम के साथ लगा ले; बी० ए०-पास तो ये-मास्टर साहब—होंगे-ही!"

"पर यह भी तो नहीं बताते कि पहले ये क्या थे? कहाँ से आये? कैसे क्या हुआ?—व्यर्थ की एक पहेली-सी बना रहे हैं।" सुमित्रा ने कहा।

बसन्ती बोली—ज़रा हिचक कर—"बात यह है जी, आदमी के जीवन की अनेक ऐसी बातें होती हैं, जिन्हें गुप्त रखने के लिये वह मजबूर होता है, और जिन्हें खोलने से उसकी प्रतिष्ठा में अन्तर आता है।"

सुमित्रा ने कहा—"तो क्या कहीं से जेल काट कर आये हैं ?"

बसन्ती ने जल्दी-से समझाया—"यह बात नहीं। देखो, ये कहते हैं—'मैं धनवान भी रह चुका हूँ'; हो सकता है, इनके धनिक जीवन से और भी कोई भेद सम्बद्ध हो और सब बात खोल देने पर इनके या इनके धनिक सम्बन्धियों के व्यक्तित्व पर आक्षेप आवे।"

सुमित्रा ने कुछ उत्तर न दिया। बसन्ती ने समझा—वह मान गई है। पर वह कुछ और-ही सोच रही थी—इस संक्षिप्त वार्त्तालाप में उसने उससे (बसन्ती-से) यह कब में कह दिया कि मास्टर साहब ने अपने धनिक होने की बात भी कही थी?

फिर उसने सोचा—कहीं उनका (सम्पतराय का) अनुमान सत्य तो नहीं है; बसन्ती मास्टर साहब पर फिसल तो नहीं रही है?

फिर सोचा—यह भ्रम है। ऐसा नहीं हो सकता। मैंने इससे कह-ही दिया होगा मास्टर साहब की अतीत धन-सम्पन्नता की बाबत।

पर उस का सन्देह अपनी जगह से हटने को तैयार न हुआ!

सुमित्रा को चुप देख कर बसन्ती ने एक पराठा हाथ में लेकर उसकी तरफ़ बढ़ाया।

सुमित्रा ने हाथ से निषेध करते हुए हँस कर कहा—"कल से तुम्हारे ये मास्टर साहब मुझे अंग्रेज़ी पढ़ाने आया करेंगे।"

बसन्ती ने मुँह बना कर कहा—"हूँ! आप कैसे बोलती हैं! 'मेरे मास्टर साहब' क्यों होने लगे; होंगे आ………।"

सुमित्रा ने उसकी बात पूरी करके कहा—"मेरे-ही सही, और तुम भी पढ़ा करोगी उनसे—मेरे साथ-ही-साथ?"

बसन्ती ने बिगड़ कर कहा—"मैं क्यों पढ़ने लगी? आप-ही पढ़िये।"

सुमित्रा हँस कर चुप होगई।

बसन्ती सतर्क होगई। सुमित्रा के स्वर और उसकी चेष्टा में छिपी हुई अस्वाभाविकता का उसने भी आभास पा लिया। पर उसकी सारी सतर्कता, सारे संयम पर पानी फिर गया, जब अगले दिन मास्टर साहब ज़ीने पर आये। उसने अपने को बहुत रोका, पर मास्टर साहब की कल की हँसी उसे उधर खींचे लिये

आ रही थी। आख़िरकार वह चल-ही पड़ी ज़ीने की तरफ़। पर हाय! मास्टर साहब ने आहट पाकर उसकी तरफ़ देखा—और घोर गम्भीर और उदास भाव से—सिर झुकाकर- बैठक की ओर चले गये। वहाँ सुमित्रा और सम्पतराय बैठे थे। सुमित्रा उन्हें देखते-ही उठ कर अपने निजी कमरे में आगई। मास्टर साहब भी उसके साथ-ही चले आये।

बसन्ती उदास होकर अपने कमरे में आई, और सोच में डूब गई। मास्टर साहब का व्यवहार उसके लिये एक समस्या थी। वह कभी इस सिरे को देखती थी—कभी उसको; कभी उनकी कल की हँसी को याद करती थी, कभी आज की उदासी को। उसने सोचा—बहुत देर सोचा—फिर एक निश्चय पर पहुँची। पाँचू के हाथ दो पैसे की बरफ़ मँगाई, दो ग्लास पानी तैयार किया, फिर सुमित्रा के कमरे की ओर चली।

सुमित्रा और मास्टर साहब सामने आमने-सामने दो कुर्सियों पर बैठे हुए थे। अंग्रेज़ी की तीसरी पोथी बीच में रखी थी और मास्टर साहब उसे धीरे-धीरे गम्भीर स्वर में सुमित्रा को पढ़ाते और समझाते जा रहे थे।

बसन्ती ने दरवाज़े पर पहुँच कर अल्प समय में

सब-कुछ देखा और कमरे में घुस गई।

खैर! पहले दिन वाली बात-ही हुई। सुमित्रा ने ग्लास ले लिया, मास्टर साहब ने गम्भीरता-पूर्वक इनकार कर दिया।

बसन्ती को ऐसा क्रोध आया—अभी इस मास्टर के सर पर ग्लास देकर मारूँ! पर परिस्थिति देखकर उसने ज़ब्त किया, और सुमित्रा का खाली ग्लास लेकर वह कमरे से बाहर होगई।

रसोई-घर में जाकर आज उसने ग्लास फेंका नहीं; जाकर बैठ गई। पहले मास्टर साहब पर क्रोध हुआ, फिर अपने ऊपर घृणा हुई। अपनी चञ्चल वृत्तियों को धिक्कारदी। फिर सोचा—और जो—संयोग है!—उन्हें प्यास न-ही हो, तो वह कैसे ले लेते?

फिर उसने पाँचू को बुलाया और हुक्म दिया—"ग्लास लेजाकर मास्टर साहब को दे आओ।"

पाँचू बेचारा ग्लास उठा कर चल दिया—बिना कुछ बोले। बोल पड़ता तो उसकी बेटी की हर्षोत्पादक उद्दण्डता में अन्तर आ जाता न!

ख़ैर, बसन्ती की आँखें कमरे के दर्वाज़े पर अटकी रहीं। पाँचू अब लौटता है, अब लौटता है भरा ग्लास

हाथ में लिए हुए, यही उसकी आशा थी, यही उसकी भावना थी, यही उसकी कल्पना थी और यही उसकी आकांक्षा थी।

ज़रा देर हुई—उसके चेहरे का भाव बदला। इतनी देर क्यों हुई?—पानी तो मास्टर साहब ने पिया-ही नहीं होगा! ओह! शायद ग्लास वहीं रखवा कर सुमित्रा उससे कोई पुस्तक निकलवा रही होगी आलमारी में से बस, यही बात है। अब पुस्तक दे दी होगी।............ उसने देख ली होगी।......अब पुस्तक वापिस आलमारी में रख दी होगी।......अब उसने ग्लास उठाया होगा। ... और...ए...ए...ह वह आगया!!

सचमुच इसी वक़्त पाँचू कमरे के बाहर आगया। बसन्ती ने उसके हाथ में ख़ाली ग्लास देख कर रसोई में घुसकर सिर पीट लिया। इतने में पाँचू वहाँ आ पहुँचा। बसन्ती दौड़कर अपने कमरे में घुस गई। वह बेचारा खड़ा-खड़ा अपनी उद्दण्ड बेटी का कौतुक-मय व्यापार देखता रहा और अचरज में भरा, सिर झुकाये, बढ़ी हुई दाढ़ी खुजाता हुआ दूसरी तरफ़ चला गया।

एक घण्टे बाद बसन्ती अपने कमरे से निकली। आँखें लाल हो रही थीं, गाल मटमैले हो रहे थे, चञ्चलता

अस्त हो रही थी, चेष्टा व्यस्त हो रही थी। उसने दाँत पीस कर एक बार सुमित्रा के कमरे की ओर देखा—फिर रसोई-घर में गई, मुँह धोया और आटा उसनने बैठ गई। उसी वक़्त मास्टर साहब सुमित्रा के कमरे से निकल कर बैठकख़ाने की ओर चले। बसन्ती ने आवाज़ सुनी, पर अविचलित भाव-से आटा उसनती रही। क्या मजाल जो ज़रा पलक उठ जाय! थोड़ी देर बाद मास्टर साहब बैठकख़ाने में से निकल कर ज़ीने को तरफ़ चले। पर बसन्ती ने फिर भी नज़र न उठाई। उसी तरह—बल्कि उस तरफ़ से पीठ फेर कर—काम में व्यस्त रही; हाँ, कान मास्टर साहब के जूते की आवाज़ सुनने के लिये बराबर खड़े रहे।

आह! बसन्ती तूने पीठ फिराकर देखा नहीं—मास्टर साहब तेरी ओर-ही पीठ फिराकर देखने जा रहे थे!

शाम को सुमित्रा भोजन करने रसोई-घर में आई तो कहने लगी—"ओ हो! बड़ी भूल हुई!"

बसन्ती ने पूछा—"क्यों?"

सुमित्रा ने कहा—"मैंने व्यर्थ बेचारे मास्टर साहब को बुरा-भला कहा। बड़ा गहन दिमाग़ है इनका तो।"

बसन्ती सोचने लगी—उसे बात को सुन कर खुश होऊँ या दुःखी! उसने क्षण-भर में-ही सोच लिया कि खुशी होने का न उसे अधिकार है, न उपयुक्त मौक़ा। हूँ! खुशी! उसने कुढ़कर कहा—"अजी बस देख लिया गहन दिमाग़! मुझे तो यह कोई जादूगर मालूम होता है—कल भाई साहब से मिला, उन पर जादू डाल गया, आज आपसे मिला, आप पर।"

सुमित्रा ने हँसते हुए कहा—"पर यह तो कहो, तुम पर तो जादू न डाला, तुम्हारी तो खूब बातें उससे घुटी थीं, दवा दी थी जब!!"

बसन्ती के शरीर में बिजली दौड़ गई! बदज़ात पाँचू! समझा देने पर भी न माना! उसने सक्रोध कहा—"देखो बीबीजी, किसी की बात पर विश्वास कर तुम मुझ से ऐसी बातें न कहा करो। यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है।"

बसन्ती यह कह कर रोने लगी।

सुमित्रा बड़े इन्द्रजाल में पड़ी—क्या इन दोनों के बीच प्रीति-रज्जु नहीं बँधी है?

नहीं, बँधी तो थी, पर बे-सहारे होकर खुल गई!

७

परीक्षा

वसन्ती से साक्षात्कार के बाद और दवा देते-देते वार्त्तालाप के बाद बाल-ब्रह्मचारी, गम्भीर मास्टर साहब के हृदय में जिन भावों का संघर्ष हुआ, वे बड़े अनोखे थे। वसन्ती के प्रति उन्हें एक विशेष प्रकार का खिंचाव-सा अनुभव हो रहा था। पर अपनी सलज्ज और गम्भीर प्रकृति के कारण वे उस खिंचाव का प्रदर्शन न

कर सकते थे, और न उचित-ही समझते थे। शुरू से-ही वह अपने हृदय को सम्हालने, संयत रखने और विवेक शक्ति को हाथ से न जाने देने की घोर चेष्टा कर रहे थे, और सफल भी हुए थे। पर मौक़ा पाकर उसकी तरफ़ ताकना वह न छोड़ सके। वे समझ रहे थे— बसन्ती भी उनकी ओर आकृष्ट है, परन्तु सदा से-ही नीरव अथवा मौन रहना, और नीरवता या मौन को पराकाष्ठा पर पहुँचा देना ('to be check'd for silence') उनका स्वभाव था। अपने जीवन में घटने वाली प्रत्येक—क्षुद्र-से-क्षुद्र—घटना का वे निस्तब्धता-पूर्वक अध्ययन करते थे, तब किसी परिणाम पर पहुँचते थे और तभी अपने निश्चय को व्यावहारिक बनाते थे। इसी कारण उन्हें प्रेम के पग पर चलने के लिये बार-बार अपनी विवेचना-शक्ति अथवा अपने विवेक की सम्मति लेनी पड़ रही थी, और इसी कारण बसन्ती—जिसके प्रेम की गति तीव्रतर थी—अपने जल्द-बाज़ हृदय की रङ्गीन तरङ्गों में कठपुतली की तरह चक्कर लगा रही थी।

उन्होंने सम्पतराय से बसन्ती की सारी कथा सुनी थी, और यह भी सुना था कि सम्पतराय

विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के घोर पक्षपाती हैं, और किस प्रकार उन्होंने विधवा सुमित्रा से विवाह किया, यह भी वे सुन चुके था, और यह भी कहना-ही पड़ेगा कि उन्हें खुद भी विधवा-विवाह के पक्ष में होने में—ख़ास कर सुमित्रा और बसन्ती की कथायें सुनने के बाद—कोई आपत्ति नहीं थी। और सच कहा जाय तो उन्हें बसन्ती से विवाह करने में भी कोई हरज नहीं दिखाई पड़ता था, सिवा इसके कि अभी तक उनकी जीविका का कोई सन्तोष-जनक प्रबन्ध नहीं था। बसन्ती को देखा, तब से वे इसी तीन-पाँच में पड़े थे।

मास्टर साहब का चरित्र आदर्श न कहे जाने पर भी—आजकल के आदर्श-वादियों-द्वारा निर्मित परिभाषा का प्रयोग करें—बहुत उच्च था। बहुत-से पाठक हमारे इस कथन में सन्देह कर सकते हैं—ख़ासकर उनकी उस दिन की हँसी याद करके। पर नहीं—

इस विषय में हमें मास्टर साहब के पक्ष में एक बात कहनी है। जब बसन्ती—उनके शर्बत लेने-से इनकार कर देने के कारण—तान में भर कर तेज़ी-से बाहर निकल गई तो सम्पतराय मास्टर साहब की तरफ़ देखकर हँसने लगे। मास्टर साहब भी हँसे-बिना न रह

सके। सम्पतराय ने हँसते-हँसते कहा—"यह लड़की बेचारी बड़ी दुखिया है, पर बड़ी चञ्चल भी है। इसकी मेहमानी क़बूल न करके आपने उसे नाराज़ कर दिया।" —तब उसी सिलसिले में सम्पतराय ने उसकी कथा सुनाई थी और साथ-साथ और बहुत-सी बातें।

बसन्ती की कथा सुनकर मास्टर साहब का उस पर प्रेम तो बढ़ा-ही, साथ-ही उनके हृदय में उसके-प्रति गहरी करुणा और सहानुभूति ने भी स्थान ले लिया। जब वे बैठक ख़ाने से बाहर निकले, तो स्वाभाविकतया-ही उस दुखिया बसन्ती को एक बार पुनः देखने की उनकी इच्छा प्रबल हो उठी और खिड़की की आवाज़ सुनकर उन्होंने उसकी तरफ़ देखा। उनकी हँसी जो थी—वह हृदय की करुणा, सहानुभूति और उसे अपने निकटतर होने का अनुमान करने से उत्पन्न हुए हर्ष की मिश्रित प्रतिच्छाया-मात्र थी।

हाँ तो, इन दो-तीन दिनों में बसन्ती ने उन्हें दिखाई देना बन्द कर दिया। उनके गम्भीर, वज्र-हृदय में भी उत्सुकता और जिज्ञासा का अङ्कुर उदय हुआ। उनका विवेक कहता था—उसके विषय में पूछ-ताछ अनुचित है, उन्माद कहता था—वाह! हर्ज-ही क्या है?—

तुम्हारे मन में कोई पाप तो है नहीं।—पर उन्हें यह पता नहीं था कि मन में किसी बात के लिये तर्क-वितर्क होना-ही पाप के अस्तित्व का चिह्न है।

दुर्दमनीय औत्सुक्य के वशवर्त्ती होकर अन्ततः वे एक दिन पूछ-ही बैठे—अपनी शिष्या सुमित्रा से—"क्यों जी, आपकी दासी कहाँ है वह, बसन्ती?"

प्रश्न बहुत अधिक आगे बढ़ा हुआ था, जो उनके घण्टों के सोच-विचार के परिणाम-स्वरूप था। सुमित्रा चौंक पड़ी। उसने सिर उठा कर भर-पूर नज़र मास्टर साहब पर डाली, और फिर रुखाई-से कहने लगी—"यहीं है। क्यों, कुछ काम है?"

मास्टर साहब पर घड़ों पानी पड़ गया! हाय! हाय! कैसा अनुचित प्रश्न कर बैठा! पर अब क्या होता?—फिर भी उन्होंने बात उड़ाते हुए कहा—"कुछ नहीं जी, यों-ही 'बाइ-दि-वे' पूछ बैठा था। अच्छा तो हाँ, 'पोयट्री' (गद्य) को मैं छुड़वा देना इसलिये चाहता हूँ ……… …"

जब मास्टर साहब चले गये, तो सुमित्रा बैठकखाने में पहुँची। सम्पतराय से उसने मास्टर साहब के प्रश्न के विषय में ज़िक्र किया, और कहा—"मालूम होता है,

मास्टर साहब की दृष्टि बसन्ती पर अच्छी नहीं है। लो, मैं इन्हें कितना सज्जन समझती थी, च्च-च्च !"

सम्पतराय हँसे। बोले—"आदमी मालूम तो होता है सुधार-प्रिय। मेरे विचार में इन दोनों का विवाह ख़ूब ठीक रहेगा।"

सुमित्रा बोली—"पहली बात तो यह कि बसन्ती विवाह करना-ही—ख़ास कर इन मास्टर साहब से—नहीं चाहती है, और अगर मान लिया जाय कि चाहती भी है तो उनका किसी अपरिचित स्त्री पर इस प्रकार दृष्टि डालना अथवा उसके विषय में प्रश्न करना क़तई अनुचित है।"

सम्पतराय बोले—"यह कैसे मालूम हुआ, कि बसन्ती मास्टर साहब से हमारी-ही तरह अपरिचित है। हो सकता है, महीने-दो महीने पहले से-ही इन दोनों की देखा-देखी हो। अगर सचमुच अपरिचित हो, तो बेशक उनका दृष्टि डालना अनुचित समझा जासकता है—तुम्हारे वचनानुसार—क्योंकि तुमने दुष्यन्त का शकुन्तला पर एक-दम मोहित होजाना भी तो निन्दनीय क़रार दिया था।"

दुष्यन्त-शकुन्तला के इस प्रश्न पर सम्पतराय

अनेक बार सुमित्रा को हरा चुके थे, अतएव उसने पुनः उसी प्रश्न पर वाद-विवाद करना उचित न समझ, कहा—"परन्तु सब से बड़ी बात तो यह है कि बसन्ती मास्टर साहब से विवाह करने को तैयार नहीं है। उस दिन मैंने हँसी-हँसी में कुछ कह दिया तो बेचारी रोने लगी, और कहने लगी—'आप लोग मुझसे ऐसी बातें कहकर मेरे चरित्र का अपमान कर रहे हैं, मेरे साथ ऐसा-ही व्यवहार रहा, तो मुझे लाचार होकर यह अवलम्ब भी छोड़ना होगा'।"

सम्पतराय ने इस बात को ध्यान-से सुना, और सोच-समुद्र में डूब कर उन्होंने आप-ही प्रश्न किया—बसन्ती का रुदन और कथन कृत्रिम था, या स्वाभाविक?

सम्पतराय अगर हम से पूछते तो हम यह उत्तर देते—"हाँ, था तो स्वाभाविक, पर इस स्वाभाविकता की गति में यदि अन्तर न डाल दिया गया, तो बहुत-शीघ्र यह भयङ्कर रूप धारण कर लेगी।"

पर, खेद! न सम्पतराय ने हम से पूछा और न उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल-ही सका!

फिर वे एकाएक बोले—"मेरी राय में, बसन्ती को एकाध पर मास्टर साहब के पास भेजना चाहिये।

देखें, इसका क्या प्रभाव पड़ता है। यदि बसन्ती वास्तव में मास्टर साहब के प्रति अनुरक्त नहीं है तो हमें उसे इसके लिये बाध्य न करना चाहिये।"

सुमित्रा न इस प्रस्ताव के पक्ष में थी, न उसे इसमें कोई आपत्ति थी। अतएव उसने यही कहा—"जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये।"

सम्पतराय ने बसन्ती को बुलाया। वह आई। क्रोधाग्नि में झुलसते झुलसते उसका चेहरा सफ़ेद होगया था, मुँह पर वह चञ्चलता का भाव नहीं रह गया था। आई, और सिर झुका कर खड़ी होगई।

सम्पतराय ने उसकी परिवर्त्तित अवस्था को देखा, इस परिवर्त्तन के कारण का निर्णय करने में उनका मनो-विज्ञान भी फ़ेल होगया! पर अन्त में उन्होंने उसे मास्टर साहब के पास भेजना-ही उचित समझ कर कहा—"भई बसन्ती……कोई ज़रूरी काम कर रही हो क्या?"

बसन्ती ने उनका अभिप्राय न समझ कर कहा—"नहीं तो, मटर छील रही हूँ।"

सम्पतराय को जल्दी में ऐसा कोई बहाना न मिला, जिसके सहारे वे उसे मास्टर साहब के पास भेजते।

अतः उन्होंने कहा--"अच्छा, पहले मटर छील आओ, तब आना।"

बसन्ती उत्सुक हो उठी। चार-पाँच मिनट में-ही वह लौट आई। सम्पतराय इतनी देर में बहाना सोच चुके थे। उन्होंने सुमित्रा का एक फ़ोटो उसके हाथ में देकर कहा--"यह फ़ोटो मास्टर साहब को 'इनलार्ज' करने के लिये दिया गया था, पर वे भूलकर इसे यहाँ-ही छोड़ गये। तुम इसे झटपट उन्हें दे आओ। सुना?"

बसन्ती मास्टर साहब का नाम सुनते-ही एक बार पीली पड़ गई। पर अपने मनो-भावों को वह सम्पतराय या सुमित्रा पर प्रगट करना नहीं चाहती थी, अतः उसने अपने को सम्हाला और चुपचाप खड़ी रह गई।

सम्पतराय ने फ़ोटो उसकी तरफ़ बढ़ा कर कहा—"लो!"

बसन्ती ने सिर ऊँचा करके कहा—"खाना बनाने का वक़्त होगया है। कल उसके आने पर दे दीजियेगा।"

सम्पतराय ने कहा—"खाना आकर बना लेना। बहुतेरा वक़्त है। देर कितनी लगेगी; आना और जाना।"

बसन्ती ने फिर भी फ़ोटो न लिया और चुपचाप खड़ी रही।

सम्पतराय ने फ़ोटो हिलाते हुए कहा—"लो, झट-पट ले आओ।"

बसन्ती ने उदासी-से कहा—"मेरी धोती तो गीली पड़ी है, इस धोती को पहने गली में कैसे जाऊँ। बाक़ी दोनों धोबी के यहाँ गई हैं।"

सुमित्रा यद्यपि इस कथोपकथन में भाग नहीं लेना चाहती थी, तो भी—बसन्ती का झूठा बहाना व्यर्थ करने के लिये कौतुक-से—बोल उठी—"धोती मेरी पहन जाओ, फ़ोते-लगी, सिल्क-वाली।"

बसन्ती ने विचित्र दृष्टि से उसकी ओर देखा। उस दृष्टि में क्रोध था, भर्त्सना थी और दया-भिक्षा थी। वह मानों सुमित्रा से कह रही थी—"तुम सब-कुछ जानते हुए भी मुझसे बैर निकालना चाहती हो?"

सुमित्रा ने मुस्कुराकर कहा—"जाओ, पहन जाओ।"

सम्पतराय ने फ़ोटो और एक इञ्च आगे कर कहा—'लो।"

बसन्ती ने निरुपाय होकर फ़ोटो ले लिया और निराश स्वर में सुमित्रा से पूछा—"कहाँ रखी है?"

"क्या?—धोती?" सुमित्रा ने कहा—"सामने के कमरे में खूँटी पर टँगी है।"

बसन्ती की धोती गीली नहीं थी। बाहर आकर उसने अपनी-ही धोती पहन जाने का विचार किया। पर फिर सोचा—"ऐसा करने से सम्पतराय उसे झूठी समझने लगेंगे। इस लिये उसने सुमित्रा की—फीते वाली, सिल्क की—धोती पहन कर जाने का-ही निश्चय कर लिया।

पर जब धोती-पहने दर्पण के सामने से गुज़र रही थी, तो उसमें अपनी छवि देखकर वह एका-एक ठहर गई। पहले उसने दाँत पीसे—हूँ! इस तरह जाऊँगी तो वह समझेगा, मुझे रिझाने आई है। कूक! कूक! मैं उसे रिझाने जाऊँ! इस धोती को बदल डालती हूँ। पर, मुझे उससे और उसके रिझाने से मतलब क्या? मैं क्यों उससे डरकर धोती बदलूँ? रीझेगा—रीझो, जलेगा—जलो। मुझे अपने काम-से-काम है। मैं उसकी पर्वाह क्या करती हूँ!"

बसन्ती यह कह कर वही रङ्गीन चित्ताकर्षक धोती-पहने निर्भय-चित्त मास्टर साहब के घर की ओर चली।

उधर मास्टर साहब बड़े अनुतप्त थे। क्यों मैंने ऐसा प्रश्न सुमित्रा से किया? क्यों नहीं अपने आप को रोक सका? क्या मेरे चरित्र की महत्ता रही?—ये

प्रश्न एक-के-बाद-एक उठकर उनके हृदय में दर्द पैदा कर रहे थे, और एक अजीब आन्दोलन इनके मस्तिष्क में मचा हुआ था।

सुमित्रा ने अपना एक फ़ोटो उन्हें आज 'इनलार्ज' कराने को दिया था। उन्होंने मन बहलाने के लिये कैमरा दुरुस्त किया, खिड़की खोलदी, जिससे एक विशेष स्थान पर खूब प्रकाश होगया। इसी प्रकाश में चित्र रख कर वे अँधेरे कमरे में भी 'फ़ोकस' मिला लेते और चित्र खींच लेते थे। परन्तु जब उन्होंने कोट की जेब में हाथ डाला तो फ़ोटो ग़ायब! अचानक उन्हें याद आया कि फ़ोटो बैठक-ख़ाने में रह गया। कैमरा उसी तरह रक्खा रहा, और वे बैठकर फिर इन्हीं प्रश्नों में उलझने लगे।

अचानक उन्हें एक बात याद आई। कई दिन से वे एक पत्र लिखने का विचार कर रहे थे। उन्होंने कागज़, क़लम, दवात उठाई और लिखने लगे—

भैया हेतराम!

आज एक वर्ष और कुछ महीनों के बाद मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। इस समय में मैंने क्या-क्या मुसीबतें झेलीं, और क्या-क्या किया, उसका विस्तृत विवरण पत्र में देने से एक पुस्तक बन जायगी। संक्षेप में, कहना यही है कि

मैंने एक फ़ोटोग्राफ़र के यहाँ नौकर होकर फ़ोटोग्राफ़री और चित्रकारी सीखी, साथ-साथ बी० ए० पास किया। कुछ दिन बाद मुझे उस चित्रकार के यहाँ से निकलना पड़ा, और अब मैं उपरोक्त पते पर प्राइवेट तौर पर चित्रकारी करता हूँ। मेरी उत्कट लालसा है कि, तुम्हारी इच्छा हो तो, हम दोनों फिर उसी तरह साथ-साथ रहें। मैं..........

८

अनर्थ

मास्टर साहब खुद जाकर तो चित्र ला-ही नहीं सकते थे, और कैमरा उन्होंने दुरुस्त कर लिया था, इस लिये उन्होंने पत्र समाप्त करके आज अपना चित्र खींचने का इरादा किया था। यही सोचकर उन्होंने उसी प्रकाशित, निर्दिष्ट स्थान पर एक चौकी रख दी थी और ट्यूब उस

चौकी के नीचे तक लेजाकर ज़मीन पर रख आये थे, जिसमें पैर से दबाते-ही उनका चित्र उतर आता। पर वे पत्र पूरा कर भी न पाये थे कि खट् खट् करती बसन्ती ने कमरे में प्रवेश किया।

जब राजा दिलीप ने नन्दिनी की रक्षा के लिये तर्कस पर हाथ डाला था और उनका हाथ वहीं रह गया था, तो उस समय उनकी जो दशा हुई थी, वही दशा इस समय बसन्ती को देख कर मास्टर साहब की हुई। क़लम उनके हाथ से छूट गई और वे आँखें फाड़ कर अनपेक्षित बसन्ती की सूरत, शक्ल और उसके परिच्छद को निहारने लगे।

वाह रे वाह! रूप भी क्या हँसता हुआ सिल्क की नीली साड़ी पर खेलरहा था! बसन्ती की अपूर्व छटा पर मास्टर साहब मुग्ध हो उठे। क्या इसमें रूप की भी इतनी प्रचुरता है! अरे! अरे!—मास्टर साहब बैठे-के-बैठे रह गये।

मास्टर साहब की यह दशा बसन्ती ने भी देखी। उसने इसी में अपनी विजय समझी। विजय-गर्व से उत्पन्न हुई मुस्कुराहट उसके ओठों पर दौड़ गई। पर यह मुस्कुराहट मुरारी—मास्टर साहब के हृदय में वह

उत्तेजना पैदा करने को काफ़ी थी, जो,विवेक, मर्यादा और दूरदर्शिता को बहुत अंशों में नष्ट कर देती है। मूर्ख! मुस्कुराहट के पीछे-पीछे आती हुई घोर उपेक्षा पर उसकी नज़र-ही न पड़ी!! पड़तो भी क्यों?

हाँ तो बस मास्टर साहब ने समझा—यह मुस्कुराहट वह निमन्त्रण है, जो बसन्ती ने अपने शरीर, अपने रूप और अपने यौवन का उपभोग करने के लिये उसके पास भेजा है।

वह उठा! बसन्ती की मुस्कुराहट ग़ायब होगई। उसने फ़ोटो हाथ में लेकर दृढ़ स्वर में कहा—"मास्टर! जयन्ती का चित्र है यह, लो इसे, भाई साहब ने भेजा है!"

मास्टर साहब ठिठके। ओह! यह चित्र देने आई है।—पर यह आकर्षक वस्त्र क्यों, यह पागल बना देने वाली मुस्कुराहट क्यों? हुँ! चित्र तो बहाना-मात्र है! वह आगे बढ़ता-ही गया।

बसन्ती भयभीत होकर दो-तीन क़दम पीछे हट गई—घृणा बढ़ी—कौतुक घटा—व्यङ्ग ग़ायब!

पर मास्टर साहब निमन्त्रण पाचुके थे, निमन्त्रण को लौटाना भी नहीं चाहते थे। बसन्ती ने पीछे हट कर—भीरुता दिखा कर—उन्हें अधीर कर दिया। कोई

आदर्श-वादी छाती पर हाथ रख कर कहें—इस अवस्था में वह क्या करते। हम कहते हैं—और बिना छाती पर हाथ धरे—वे यही करते जो मास्टर साहब ने किया।

हाँ तो बसन्ती डर कर पीछे हट गई, मुँह से कुछ बोल न सकी और चित्र वाला हाथ उसका धीरे-धीरे नीचा होने लगा। बस—पुरुष, स्त्री की और किस चेष्टा को उसका आत्म-समर्पण समझे? मास्टर साहब ने लपक कर बसन्ती की कलाई थामली।

बसन्ती के मुँह से हलकी-सी कराहट निकली। उसने बकरी की तरह घिघियाकर कहा—"ओ दुष्ट मास्टर!............चित्र!"

पर इससे पहले-ही मास्टर साहब ने उसकी छटपटाहट पर ध्यान न दे उसे कसकर बाँहों में लपेट लिया और ज़ोर-से चूम लिया!!

इसी समय 'खट्'-से आवाज़ हुई। इस कश-म-कश में मास्टर साहब का पैर अचानक उस यन्त्र पर पड़ गया, जो ट्यूब के साथ लगा हुआ चौकी तक लाया गया था! इसी दशा में—परस्पर आबद्ध—कैमरे में उनका चित्र खिच गया।

मास्टर साहब ने इस पर लक्ष्य दिया, पर बसन्ती

ने नहीं। मास्टर साहब की बाँहों से छूटते-ही उसने लाल-लाल आँखें कर उनकी ओर देखा—ज़ोर-से ज़मीन पर पैर पटका—छाती फुला-फुला कर साँस लिया, और सुमित्रा का फ़ोटो फ़र्श पर फेंक कर तीव्र-गति से बाहर होगई।

और मास्टर साहब?—उन्होंने जाती हुई बसन्ती को, और उसके क्रुद्ध, अस्वाभाविक भाव को खूब ग़ौर-से एक-टक देखा, और फिर हारे-से—किसी जीवन-सखा को फूँक कर श्मसान से लौटकर आये हुए मनुष्य की तरह—फ़र्श पर बैठ गये—बैठ क्या गये, गिर गये।

आह! बड़ा बुरा किया! बिना सोचे-समझे!—धिक्कार है मुझे!—इस विचार ने आख़िर अपनी चरम-सीमा पर पहुँच कर छोड़ा। मास्टर साहब घुटनों में सिर देकर रोने लगे।

बहुत देर बाद उन्होंने हेतराम को लिखा हुआ पत्र पूरा किया।

रात-भर वे चिन्ता और अनुताप में दग्ध होते रहे। हाय! मुरारी! तुम्हारा गर्व चूर्ण हुआ! तुम्हें अपने संयम पर बड़ा घमण्ड था! कहाँ है, तुम्हारा वह घमण्ड? हा! तुम्हें अभी बड़ी तपस्या की

ज़रूरत है !

सुबह उठे तो चेहरा ग्लानि से मुर्झाया हुआ था। पाखाने से लौट आये तो आध घण्टे सोच में डूबे चौकी पर बैठे रहे। फिर नहा कर आये तो बहुत देर तक कपड़े पहनने की न सूझी। आख़िर लम्बी साँस लेकर उठे, गली की तरफ़ का दर्वाज़ा खोला, सुमित्रा का फ़ोटो काफ़ी बड़ा था, कैमरे में 'इनलार्ज' करने का विचार उन्होंने त्याग दिया और रँग, कूची सामने रख, उसका तैल-चित्र तैयार करने बैठे। एक घण्टे तक उनका ध्यान रह-रह कर उचटता रहा। पर जब वे उसमें पूरे-जी के साथ लग गये तो पहली चिन्ता उन्हें क़तई भूल गई।

बड़े परिश्रम से उन्होंने शाम तक चित्र तैयार-सा कर लिया, केवल थोड़े 'फ़िनिशिङ्ग' की कसर थी। उन्होंने चित्र चौकी पर रख दिया और अँगड़ाई लेने लगे।

सुमित्रा को पढ़ाने जाने का समय बीत चुका था। यह नहीं था कि उन्हें जाने की याद नहीं थी, या समय का पता नहीं था, पर चित्र बनाते-बनाते-ही वे इस विषय पर काफ़ी तर्क-वितर्क कर चुके थे, यद्यपि आज जायें या नहीं ? अन्त में उन्होंने उस दिन न जाने का-ही निश्चय किया—जाने की हिम्मत-ही न हुई—न मालूम

वहाँ क्या दुर्घटना हुई हो, बसन्ती ने जाकर क्या कह दिया हो!

थोड़ी देर विश्राम लेकर उन्होंने कैमरे में से वह प्लेट निकाली, जिस पर बसन्ती और उनका परस्पर आबद्ध चित्र आगया था। चित्रकार में एक ख़ास अवगुण होता है—वह चित्र पूरा करके उसी समय, बल्कि उसी दिन भी, उसका 'फ़िनिशिंग' नहीं कर सकता। ख़ाली बैठकर वे धुँधली चिन्ता को ताज़ी करना चाहते नहीं थे, अतः उन्होंने उस प्लेट को उसी समय छापने का निश्चय किया। पागल! यह नहीं सोचा, यह चित्र बनाते हुए तो याद ताज़ी-ही नहीं होगी, वह दृश्य आँखों के सामने रहेगा, और पता नहीं उसका क्या प्रभाव उनके मनो-भावों पर पड़ेगा!

हाँ तो चित्र छापते और सुखाते-सुखाते उन्हें रात होगई। इतने में किसी ने गली के दर्वाज़े में से पुकारा "मास्टरजी!"

वह पाँचू था। मास्टर साहब ने सूखी हुई कापियाँ छिपाते हुए कहा—"अरे, पाँचू! आओ, ऊपर आओ।"

पाँचू ने आकर कहा—"मास्टरजी, बहूजी ने आपकी तबियत पूछी है।"

मास्टर साहब ने सन्तोष की साँस ली। कहा—"कहना—'तबियत तो अच्छी है, आज उनका चित्र बनाने में व्यस्त रहा।' यह देखो।"

मास्टर साहब ने यह कहकर सुमित्रा का चित्र पाँचू को दिखाया। पाँचू ने कहा "वाह! वाह! मास्टरजी यह तो बड़ा बढ़िया बना! ले जाऊँ क्या?"

मास्टर साहब ने कहा—"अभी तो इसे और दुरुस्त करना है। कहना—'कल आयगा'।"

पाँचू चलने को हुआ। मास्टर साहब ने रोक कर पूछा—"क्यों जी, आज मेरा इन्तज़ार हुआ होगा?"

"इन्तज़ार?" पाँचू ने कहा—"आज तो आपके लिये भोजन बना था। हाँ, अरे, यह तो मैं कहना-ही भूल गया—उन्होंने कहा है—आप वहाँ चल कर भोजन करलें, क्योंकि वह आपके लिये-ही बना है।"

मास्टर साहब के मन का बोझ हलका हुआ। एक बार मन में आया—चलें, भोजन के बहाने देखते आयेंगे बसन्ती का भाव। फिर अपने इरादे को उन्होंने धिक्कारा और बोले—"नहीं, इस समय तो भोजन की इच्छा है नहीं, मैं कल अवश्य उपस्थित होऊँगा।"

"अच्छा" कह कर पाँचू फिर चलने को तैयार

हुआ। मास्टर साहब ने पुनः रोक कर कहा—"खाना तुम्हारे यहाँ कौन बनाता है?"

यद्यपि वे अपने प्रश्न का उत्तर जानते थे।

पाँचू ने कहा—"बसन्ती।"

मास्टर साहब बोले—"क्यों जी, बसन्ती को इनके यहाँ रहने में कोई कष्ट तो नहीं होता है?—उस पर किसी प्रकार का अन्याय तो नहीं होता है?"

पाँचू बोला—"वाह जी! अन्याय उस पर क्या हो सकता है? वह तो इस घर में बेटी-बहिन बन कर रहती है, उस पर क्या अन्याय होसकता है? बल्कि वह-ही ...."

पाँचू कहता-कहता रुक गया। मास्टर साहब ने पूछा—"हाँ, क्या.........?"

"अजी कल-ही शामको... " पाँचू ने शुरू किया।

मास्टर साहब थर्रा उठे। साँस रोककर सुनने लगे।

पाँचू उसी सिलसिले में कहता रहा—"......जाकर पड़ रही। कहने लगी—'मुझसे रोटी-वोटी न होगी।' सुमित्रा न खुद-ही रोटी बनाई।"

मास्टर साहब ने उत्सुकता-से अधीर होकर पूछा—"हाँ, फिर क्या हुआ?"

"कुछ नहीं," पाँचू ने कहा—"मेरे कहने का मतलब यह है, कि बहूजी तक उस का इतना मन रखती है, कि रात को—उसकी तबियत खराब जान कर—बहुत देर तक उससे वार्त्तालाप करती रहीं।"

"क्या बात हुई?—बता सकते हो?" मास्टर साहब ने और अधीर होकर पूछा।

"यह मुझे पता नहीं साहब!" पाँचू रूखे भाव से इतना कह कर बोला—"अब मैं चलता हूँ। कह दूँगा—'कल आने को कह दिया है'।"

पाँचू फिर वहाँ न ठहरा और मास्टर साहब को पुनः चिन्ता-नदी में गोते खाता छोड़ गया।

मास्टर साहब जी बहलाने के लिये फिर उस सूखे हुए ताज़े फ़ोटो की एक कॉपी लेकर बैठ गये। ड्रॉइङ्ग-पेपर पर उन्होंने थोड़ी देर में-ही उसका 'पेंसिल-स्केच' कर डाला। वाह! क्या साफ़ और आकर्षक चित्र था! बसन्ती का मुँह मास्टर साहब के लम्बे-लम्बे बालों और चेहरे की ओट में छिप गया था, पर वे उसके मुँह का स्पष्ट दर्शन कर रहे थे—कल्पना-दृष्टि-द्वारा। 'पेन्सिल-स्केच' भी बहुत बढ़िया हुआ था। मास्टर साहब चित्र देखते-देखते उसी ध्यान में लीन हो

गये। फिर वहीं बैठे-बैठे उन्हें किस वक्त नींद आ गई, इसका पता नहीं।

सुबह उठे, तो नहा-धो कर उन्होंने कल वाले 'पेन्सिल-स्केच' में रँग भरना शुरू किया। साड़ी का रङ्ग, जाकट का रङ्ग-साड़ी के फ़ीते का फूल—सब उनकी आँखों के सामने नाँच रहा था। आखिर शाम के तीन बजे जो चित्र बना कर उन्होंने तैयार किया—बिना दाना-पानी खाये-पिये एकाग्र-चित्त से—वह उस दृश्य से हू-ब-हू मिलता था, जो परसों शाम को घटित हुआ था। मास्टर साहब स्वयं उससे सन्तुष्ट हो गये और उन्हें भी उसके सादृश्य में सन्देह न रहा।

चित्र बड़ा मनोमोहक था। मास्टर साहब टक-टक उसे निहारने लगे, पास रख कर देखा, दूर रखकर देखा। पहली सब बात भूल कर वे उस चित्र को छाती से लगाये बसन्ती और उसी दृश्य के ध्यान में डूब गये।

फिर उन्होंने सावधानी-से उस चित्र को कागज़ में लपेटा। सुमित्रा का चित्र भी तैयार था; उसे भी लपेटा। फिर बसन्ती वाले चित्र पर—बँधे हुए पर—लिखा—'मेरा निजी चित्र" और तब दोनों चित्रों पर एक-एक

सफ़ेद काग़ज़ लपेट कर बाँध दिया।

तब वे उन चित्रों को छोड़, बैठक से बाहर निकले और ऊपर मालिक-मकान के छोटे लड़के को पुकार कर बोले—"अरे बिस्सो! क्या बजा है?"

"साढ़े तीन!" बिस्सो ने कहा।

"ओह! आधा घण्टा देर हो गई।"—कहकर मास्टर साहब ने जल्दी-से कपड़े पहने, लिपटे हुए दोनों चित्रों में से एक—जो उनकी समझ में सुमित्रा का था—उठाया और कमरे का ताला बन्द कर तेज़ी के साथ सम्पतराय के घर चले।

सुमित्रा आई। मास्टर साहब ने बिना एक शब्द कहे चित्र उसके हाथ में दे दिया। उसने ऐसे स्वर से—जिसमें बड़ी रुखाई थी—पूछा—"क्या है यह?"

मास्टर साहब ने कहा—"आपका चित्र।"

उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, बड़ा खेद हुआ, जब उन्होंने देखा कि चित्र खोल कर देखना और उन्हें धन्यवाद देना तो दरकिनार—वह उसे लेकर खुश भी न हुई, और चित्र उसने—बँधे-का-बँधा उठा कर रख लिया। बोली—"पढ़ाइये।"

सुमित्रा के इस व्यवहार से मास्टर साहब शङ्कित

हो उठे। पाँचू कहता था—घण्टे-भर इन्होंने बसन्ती से बातें कीं! कहीं उसने कुछ कह तो नहीं दिया! इसी सोच में पड़े हुए वे अन्यमनस्क भाव से जयन्ती को पढ़ाने लगे।

सुमित्रा का भाव देखने के लिये मास्टर साहब बार-बार उसकी ओर ताकते थे। सुमित्रा भी मिनट-मिनट बाद उनके मुँह की ओर देखती थी। अनेक बार इन दोनों की आँखें मिलीं। मास्टर साहब यह देखकर सिटपिटा गये—कि सुमित्रा उनकी ऐसी नज़र देखकर उनसे उत्तरोत्तर रुष्ट और विरक्त होती जा रही है।

थोड़ी देर पढ़ कर-ही वह ऊब-सी गई। आज न उसका जी पढ़ने को था—न मास्टर साहब का पढ़ाने को। भला ऐसे कब तक पढ़ाई हो सकती थी? अतएव कहने लगी—"आज मेरा जी ख़राब है; पढ़ने की इच्छा नहीं है।"

मास्टर साहब को खुद यहाँ बैठना-तक दूभर मालूम हो रहा था। वे झट उठकर चल दिये। बैठक-ख़ाने में पहुँचते-ही बोले—"भाई साहब, मुझे क्षमा कीजियेगा; कल न सका।"

सम्पतराय ने कहा—"आइये, बैठिये।"

मास्टर साहब ने खड़े-ही-खड़े कहा--"बस ! चलता हूँ। बहनजी की तबियत आज ख़राब है। मुझे एक आवश्यक काम था। अब यहाँ से छुट्टी मिल गई है, तो क्यों उसमें हर्ज करूँ ?"

सम्पतराय ने कहा--"अरे ! आज तो आपका खाना यहीं बना है। पाँचू ने नहीं कहा क्या ?"

"नहीं तो !" मास्टर साहब ने कहा--"पर मेरी तबियत ख़राब है, मैं अन्न नहीं खा सकूँगा। इस समय चलता हूँ। फिर कभी सही।"

मास्टर साहब अभिवादन कर चले गये। इधर सम्पतराय ने पाँचू को खूब डाँटा।

६

सन्देह-विष

घर लौटे तो खेद और दुःख से भरे हुए। हृदय का रुदन ज़बर्दस्ती बाहर निकला पड़ता था, पर कोई शक्ति उसे फूट पड़ने से रोक रही थी। परसों से आज तक की सब घटनाओं पर ग़ौर किया। बैठे-बैठे अँधेरा हो गया। अचानक भूख मालूम हुई। रोटी

वे ढाबे में खाया करते थे। उठकर धीरे-धीरे उसी तरफ़ चले।

भोजन के बाद दिल बहलाने बाज़ार चल दिये। घर में पड़े-पड़े रात गये तक चिन्ता-समुद्र में डूबना-उतराना पड़ेगा—यही सोच कर नगर से बाहर की तरफ़ का रास्ता लिया।

आज उनका मन उस घोर वेदना का अनुभव कर रहा था, जो मनुष्य की निरूपण-शक्ति को नष्ट कर देती है। मनुष्यों का प्रवाह बाज़ार में इधर-से-उधर और उधर-से-इधर बह रहा था, पर उन्होंने उनमें से एक भी सूरत की तरफ़ ध्यान न दिया। चारों तरफ़ लोग नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद, राग-रङ्ग कर रहे थे, पर उनका मन इनमें से किसी की ओर आकृष्ट न हुआ। एक जगह बड़ा हो-हल्ला मचा था, चारों तरफ़ भीड़ जमा थी, तो भी उनकी जिज्ञासा न जागी, और वे उसी गति से, उसी भाव से चलते हुए निकल गये। अचानक एक जगह—जहाँ आवा-जाही कम थी—वे खड़े हो गये। सामने की दीवार पर एक पोस्टर चपका हुआ था, जिसपर किसी सिनेमा के खेल का विज्ञापन था। कई मिनट तक निर्निमेष-दृष्टि उस पोस्टर को निहारते

रहे, पर उन्हें वहाँ केवल स्याही पुती दिखाई दी, अक्षर उनकी समझ में न वहाँ कोई था, न पढ़ा गया। फिर वे चलते-चलते एक उद्यान में पहुँचे। बहुत-से आदमी जमा थे। चाँदनी पेड़ों पर सवार थी, घास पर लेट रही थी, और इतने बड़े संसार पर अपना राज्य देख, खिल-खिला रही थी। एक अजीब समाँ बँधा था। एक तरफ़ कुछ आदमी बैठे हुए गाना गा रहे थे। बड़ा मधुर स्वर था !—पर उन्हें वह मधुर स्वर भी अत्यन्त कर्कश जान पड़ा। ऊब कर उन्होंने वह स्थान भी त्यागा, और उसी प्रकार—धीरे-धीरे—घर को चले।

संसार सिर्फ़ अपने राग में मस्त है। मास्टर साहब की चिन्ता और उनके दुःख की किसी को क्या ख़बर !—और कौन इस विषय में उत्सुक होता है! उसी सड़क पर वे—दुःख में डूबे हुए—जारहे हैं, उसी पर अनेक हर्षोल्लसित जन आनन्द में मस्त घूम रहे हैं। आह! दुःख और सुख कितने पास-पास रहते हैं !!

घर आये। जाकर चौकी पर बैठ गये। फिर दिया जलाया। खाट पर पड़ रहे। फिर अचानक उठे, कपड़े उतार कर खूँटी पर टाँग दिये, और तब खाट पर पड़ कर रोने लगे।

आख़िर तबियत सम्हाल कर खड़े हुए। एक-ही चीज़ में इस समय वे दिलचस्पी ले सकते थे। उन्होंने सन्दूक खोला। लिपटा हुआ बसन्ती का और अपना चित्र निकाला। खोला। अरे! अरे! अनर्थ!!—उनकी सारी वेदना-जनित मूर्च्छा नष्ट होगई। यह क्या हुआ? वे इस प्रकार चौंक कर चित्र को देखने लगे—मानो विषधर सर्प हाथ में आगया हो। वह चित्र सुमित्रा का था—जो उन्होंने फ़ोटो की मदद से पहले दिन तैयार किया था। तो क्या बसन्ती वाला चित्र वे सुमित्रा को दे आये? उफ़!!

हाय! हाय! सुमित्रा ने वह चित्र खोलकर देखा होगा, तो बसन्ती और मेरे विषय में उसका क्या विचार होगा! हाय! सुमित्रा मुझे कैसा कामुक,नीच,पापी और जाने क्या क्या समझती होगी। आज उसका भाव कैसा शुष्क रहा। मैंने जब चित्र दिया तो बिना-खोले··· । × × हाँ · आ ··आ···आ! कहीं ऐसा न हुआ हो कि उसने चित्र अभी तक खोला-ही न हो—अभी तक वह चित्र वैसा-ही बँधे-का-बँधा रक्खा हो! हो सकता है—अवश्य ऐसा-ही है—उसे अभी चित्र देखने का मौक़ा-ही कहाँ मिला होगा? मेरे पीछे-पीछे तो वह बैठक-ख़ाने में आई

थो। फिर बात-चीत में समय लगा होगा। अभी तो आठ-ही बजे हैं, अभी तक तो उसे अपने कमरे में जाने का संयोग हुआ नहीं होगा। ··· फिर ?······चित्र वहाँ से चुपचाप ले आना चाहिये। इस चित्र को लपेट कर ले चलता हूँ;—इसे उसकी जगह रख आऊँगा, और उसे उठा लाऊँगा।

खेद ! उन्होंने चोरी-जैसा निन्द्य काम करने का भी सङ्कल्प कर लिया !!

× × × ×

मास्टर साहब के जाते-ही सुमित्रा बैठक-खाने में पहुँच गई। उसे उदास देखकर सम्पतराय ने मुस्कुरा कर पूछा—"कहो, आज क्यों हो गई तबियत ख़राब ?"

सुमित्रा ने पति की मुस्कुराहट का जवाब मुस्कुरा कर नहीं दिया। उदासी-से एक गद्दे-दार आराम-कुर्सी पर पड़ गई और अनखना कर बोली—"ये आपके मास्टर साहब—मालूम होता है—हमारे यहाँ निभ नहीं सकेंगे।"

"क्यों ?" सम्पतराय ने चौंक कर पूछा।

सुमित्रा कुछ हिचकी। फिर कहने लगी—"इनकी नज़र कुछ अच्छी नहीं है।"

सम्पतराय ने पूछा—"इसका क्या मतलब ?"

सुमित्रा ने ठहरकर कहा—"परसों बसन्ती बेचारी रोती हुई आई—जिस दिन भोजन मुझे-ही बनाना पड़ा था। मैंने आपसे सिर्फ़ यही कह दिया था कि बसन्ती इस मास्टर से घृणा करती है, पर असल में उसने मुझसे कहा था कि वह उसकी इज़्ज़त पर हमला करना चाहता था।"

सम्पतराय ने मानो स्वप्न-से चौंक कर कहा—"ऐं! यह बात! क्या किया इस मास्टर ने ?"

सुमित्रा ने कहा—"उसने—बसन्ती ने—मुझे इससे अधिक कुछ नहीं बताया कि मास्टर साहब के पास भेजकर उसके साथ घोर अन्याय किया गया और वह बड़ी मुश्किल-से उसके हाथों से अपनी इज़्ज़त बचा कर आ सकी।"

"अच्छा! यह बात !!" सम्पतराय ने कहा—"ज़रा बुलाओ तो बसन्ती को।"

सुमित्रा ने जीभ निकालकर कहा—"ना! ना। यह बात आपसे कहकर मैंने अपना वचन तोड़ा है। उसने मुझसे वचन लिया था कि मैं यह बात आप से न कहूँ। उसे बुलाकर यदि आप पूछेंगे तो मेरा

विश्वास तो जायगा-ही, साथ-ही पता नहीं उसके दिल पर कितनी कड़ी ठेस पहुँचे।"

सम्पतराय रुक गये, फिर कहने लगे—"ओफ़! ऐसा किया!—जिसे मैं बहुत समझता हूँ—उसके साथ! मेरे समझने में ऐसी भूल क्यों हुई?"

सुमित्रा ने कहा—"और-तो-और, आज मुझे-ही इसका भाव अच्छा न लगा। आज मेरा चित्र बनाकर लाया था। बार-बार निर्लज्जों की तरह मेरे मुँह की तरफ़ देखता—मानों चित्र बनाकर उसने मुझ पर कोई बड़ा अहसान किया है, इसी कारण मैंने उसे जल्दी छुट्टी दे दी।"

सम्पतराय को मनुष्य की पहिचान के सम्बन्ध में अपने ज्ञान पर घमण्ड था। किसी के विषय में कोई विचार स्थिर कर लेने पर वे उसे आसानी से बदलने को तैयार नहीं होते थे। मास्टर साहब के विषय में उनके विचार बहुत उच्च बन चुके थे। सुमित्रा की बातों से उनके सोचे हुए मास्टर साहब के 'स्टैण्डर्ड' पर ज़बर्दस्त धक्का ज़रूर लगा, पर उस 'स्टैण्डर्ड' को नष्ट करने से पहले उन्हें असाधारण चिन्ता की आवश्यकता थी। इसलिये उस समय उन्होंने उस प्रकरण को बदल देना-ही

अच्छा समझा, और बोले--"देखें, यह चित्र देखें, कैसा बनाया है।"

सुमित्रा चित्र का बण्डल उठा लाई। सम्पतराय ने तागा खोलते-खोलते कहा--"उसका आज का भाव तो अवश्य मुझे भी कुछ विचित्र जान पड़ा।"

पर इसी समय सम्पतराय के हाथ से चित्र छूट पड़ा! उनके मुँह से आश्चर्य की एक चीख निकल गई! सुमित्रा ने भी चित्र को देखा और उठकर सम्पतराय के बराबर वाली कुर्सी पर बैठ गई। दोनों ने देखा--मास्टर साहब किसी स्त्री को आलिङ्गन में बाँधे कसकर उसका चुम्बन कर रहे हैं। स्त्री का मुँह मास्टर साहब के बालों में छिप गया था, पर सुमित्रा को इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रहा कि स्त्री उसके (सुमित्रा के) सिवा कोई नहीं है, क्योंकि साड़ी, जाकट, क़द, सभी उससे मिलते थे। पीछे सम्पतराय ने भी इसकी ताईद की।

सम्पतराय ने--आश्चर्य का वेग हलका होने पर पूछा--"क्या यह चित्र तुम देख चुकी हो?"

"बदमाश, मास्टर!" सुमित्रा ने क्रोध-से बिलबिला कर कहा--"मेरा ऐसा चित्र बनाकर मुझे दे गया! मैंने तो इसे खोलकर देखा तक नहीं। तभी बार-बार

मेरी तरफ़..........."

सम्पतराय ने बात काट कर पूछा—"क्या यह चित्र वाली स्त्री तुम्हीं हो, तुम्हें इसका निश्चय है?—उसकी कोई अन्य प्रेयसी तो नहीं है?"

सुमित्रा ने क्रोध से उबलते हुए कहा—"हाँ, इसमें भी कोई सन्देह है? बदमाश ने मुझे इस घृणित रूप में चित्रित किया है। इसे अभी बुलाइये, इस दुष्ट के शरीर में कीड़े पड़ेंगे; पराई-स्त्री पर ऐसी दृष्टि!!"

सम्पतराय गम्भीर, निस्तब्ध बैठे चित्र को देखते रहे। मास्टर साहब के आलिङ्गन में आबद्ध स्त्री सुमित्रा-ही है, उसमें उन्हें भी सन्देह नहीं था, वही साड़ी, वही क़द, वही सब बात! उनके गम्भीर हृदय में धीरे-धीरे क्रोध की गैस बननी शुरू होगई। कोशिश करने पर भी वे अपने को बिलकुल संयत न रख सके। हाँ, यह प्रश्न अब भी उनके मन में चक्कर लगा रहा था—"मेरे समझने में ग़लती क्यों हुई?"

घण्टे-भर तक पति-पत्नी निस्तब्ध बैठे रहे। इस घण्टे में सुमित्रा का क्रोध बढ़ कर पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था और सम्पतराय अपना भाव पहले-जैसा—संयत—बनाने में सफल होचुके थे। बिना-सोचे किसी

परिणाम पर पहुँच कर वे अपने सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करना चाहते थे। इस समय पाँचू तीन बार यह कह कर चला गया था—"खाना तैयार है।"

सुमित्रा उठ कर रसोई-घर में चली गई। बसन्ती उदास-मुख नीचा सिर किये भोजन बना रही थी। उसने कहा—"और कोई तो नहीं खायगा?"

"क्या—भोजन?" सुमित्रा ने ज़ब्त कर के कहा—"नहीं, 'उनके' सिवा कोई नहीं खायगा।"

बसन्ती के क्रोध में घी का छींटा पड़ा। पापी ने मेरे हाथ का भोजन करना भी स्वीकार न किया! इस का अर्थ यह नहीं कि यदि मास्टर साहब भोजन कर लेते तो बसन्ती का क्रोध घट जाता। नहीं—तो भी बढ़ता। उसके क्रोध की उत्पत्ति बढ़ने के लिए-ही हुई थी, किसी तरह भी घटने के लिए नहीं।

साग परस कर बसन्ती ने होंठ काटते हुए कहा—"दो दिनों से भोजन ख़राब हो रहा है। ऐसे को नेवता देने की-ही क्या ज़रूरत थी?"

"किसको?—मास्टर दुष्ट को कहती हो?" सुमित्रा ने अपने को न रोक सकने के कारण सक्रोध कहा—उस पापी का मुँह नहीं देखना चाहिये!"

बसन्ती ने आश्चर्य-से सिर उठा कर काँपती हुई सुमित्रा को देखा। इस आश्चर्य्य में आनन्द था, सन्तोष था, औत्सुक्य था!

सुमित्रा कहती गई—"पापी के शरीर में कीड़े पड़ेंगे! दुष्ट ने मुझ पर भी बुरी नज़र डाली है।"

"हैं! आप पर······?" बसन्ती ने कहा—"क्या बात हुई?"

सुमित्रा ने ग्लानि-से कहा—"पापी ने मुझे अपने साथ चित्रित किया है;—मुझे अपने आलिङ्गन में बाँधे चुम्बन कर रहा है। नाश हो इसका!"

बसन्ती की आँखें चमकने लगीं। आलिंगन में बाँधे चुम्बन कर रहा है? आलिंगन में बाँधे चुम्बन कर रहा है??

क्षोभ और क्रोध के कारण सुमित्रा उस दिन भर-पेट भोजन न कर सकी। शीघ्र समाप्त कर, थाली छोड़, वह उद्विग्न-सी बैठक-खाने की ओर चली।

बसन्ती सिर पर हाथ रख कर बैठ गई। आलिङ्गन में बाँधे हुए चुम्बन कर रहा है! यह क्या बात?

बहुत देर तक वह इसी सोच में डूबी बैठी रही। सन्ध्या समाप्त होने को थी। पाँचू बर्त्तन उठा लेगया

था। अँधेरा चोरों की तरह रसोई-घर में घुस कर छिपने की जगह ढूँढ़ना चाहता था, क्योंकि बैठक-खाने से उसे बिजली के प्रकाश ने मारकर भगा दिया था। बसन्ती ने इसी चिन्ता में उस समय भोजन भी न किया।

फिर वह 'आलिङ्गन में आबद्ध' चित्र देखने के लिए बैठक की ओर चली। परदे पर कान लगाकर सुना—कुछ सुनाई न दिया। ज़रा-सा पर्दा उचकाकर देखा—सुमित्रा अपनी कुर्सी पर पड़ी है, और सम्पतराय अपनी कुर्सी पर लेटे हुए चित्र हाथ में लिये सोच में मग्न हैं।

बिजली के प्रकाश में चित्र साफ़ दिखाई दे रहा था। देखकर बसन्ती एक बार काँप उठी। वही दृश्य था! फिर वह क्रोध-से काँप उठी—पापी ने उसका चित्र इस रूप में बना कर उसे हर प्रकार से नष्ट करदेने का इरादा किया था!

भीतर जाने की उसकी हिम्मत न हुई।—क्या जाने उसके मुँह से सच्ची बात का कुछ अंश निकल जाय! इस समय वह आपे में थोड़ा-ही थी! सुमित्रा और सम्पतराय जिस भ्रम में पड़े थे, उन्हें उसी में डाले रहने में बसन्ती का लाभ था, उसी में वह दुष्ट मास्टर से

बदला ले सकती थी ! वहाँ से हटकर वह अपने कमरे में चली आई।

जब सम्पतराय और सुमित्रा को अपने-अपने विचारों में उलझते हुए घण्टों बीत गये थे--बल्कि सुमित्रा ने तो एक छोटी-सी नींद भी ले ली थी, तो सम्पतराय अचानक कुछ आवाज़ सुनकर चौंक पड़े—मानो किसी ने ज़ीने का उढ़का हुआ किवाड़ धीरे-से खोला हो, और पैर असावधानी-से ज़ीने के बाहर—छत पर—रखा हो। सम्पतराय एक-दम चौकन्ने हो गये। सदा सब का भला चाहते हुए भी उनके शत्रुओं की कमी न थी। समाज के सभी सड़े दिमाग़ वाले उनके शत्रु थे, और जब से उन्होंने दो मुसलमानों को जैन-धर्म की दीक्षा देकर अपनी ज़मींदारी की देख-रेख के लिये वैतनिक रूप से देहात में भेज दिया था, तब से कुछ तबलीग़ी गुण्डे उनकी जान के दुश्मन हो रहे थे, इसीलिये वे यह असामयिक आहट सुन कर एक-दम चौंक पड़े। धीरे-से उठे, और पर्दे के पीछे खड़े होकर सामने—ज़ीने की तरफ़—देखने लगे। देखा—कोई चीज़ धीरे-धीरे हिलती-ठहरती, अँधेरे-अँधेरे में, चाँदनी से बचती हुई सुमित्रा के कमरे की ओर बढ़ रही है।

सम्पतराय ने धीरे-से सुमित्रा को बताया। उसने भयभीत होकर कहा—"न जाओ।" उन्होंने हँस कर झिड़क दिया, मेज़ की दराज़ से पिस्तौल निकाला, और दबे-पाँव—जब वह आदमी या स्त्री या और कोई चीज़ सुमित्रा के घर में घुस गई—उधर-ही चले।

सम्पतराय धीरे-धीरे, बिना आहट किये, कमरे के दर्वाज़े के पास पहुँच गये। घोर अन्धकार था, चाँदनी भी यहाँ नहीं पहुँच सकती थी। उन्होंने धीरे-से झाँक कर देखा—चोर अँधेरे में-ही जल्दी-जल्दी मेज़ पर और पास वाले बेत के कोच पर कुछ ढूँढ़ रहा है!—

सम्पतराय मौक़ा पाकर निःशब्द कमरे में घुस गये। चोर ने उनकी ज़रा भी आहट न सुनी। वह उसी प्रकार एकाग्र मन से, अँधेरे में-ही सर-सर काग़ज़ों में कुछ ढूँढ़ने में व्यस्त रहा। सम्पतराय को अचरज हुआ—यह यहाँ क्या खोज रहा है?

पर ज़्यादा सोच-विचार का मौक़ा नहीं था। सम्पतराय धीरे-धीरे, दो फुट सरक कर, बिजली के 'स्विच' के पास पहुँचे, पिस्तौल कसकर हाथ में पकड़ा, कुर्ते की बाँहें ऊपर चढ़ाई और 'स्विच' दबा दिया।

'खट'!—बहुत-ही हलकी-सी आवाज़ हुई, पर नये

और उछलकर मास्टर साहब का हाथ पकड़ लिया।

(पृ० सं० २०९)

ओर मास्टर साहब को वह सैंकड़ों तोपों की बाढ़ से भी अधिक भयङ्कर जान पड़ी ! उन्होंने भय-से थर्राकर --बिजली के प्रकाश में--सम्पतराय को शेर की तरह कूदकर पिस्तौल हाथ में लिये अपनी तरफ़ आते देखा। उन्होंने उछलकर मास्टर साहब का हाथ पकड़ लिया।

'कारो तो ख़ून नहीं' की व्याख्या कोई इस समय मास्टर साहब से कराता !!

१०

धिक्कार !

सम्पतराय भी कुछ कम न चौंके। मास्टर साहब लज्जा, भय, आशङ्का और ग्लानि से मरे जा रहे थे। उन्हें मानो किसी ने सोते हुए उठा कर कुएँ में फेंक दिया हो। एक बार—सिर्फ़ एक बार—सम्पतराय को देखा, और फिर सिर झुका कर

अपराधी की तरह, चोर की तरह, दीवार की तरह अचल खड़े रह गये। कलेजे में ज़ोर-ज़ोर-से धड़-धड़ हो रही थी। पर वे उसे अनुभव नहीं कर सकते थे। हृदय भीतर-ही-भीतर थरथरा रहा था, पर उन्हें उसका कुछ होश नहीं था। बिल्कुल बेहोश, अडोल और सफ़ेद चेहरा लिये खड़े थे। हाँ, नीची नज़र किये हुए-ही उनकी नज़र बार-बार सम्पतराय के लटके हुए हाथ के पिस्तौल पर अवश्य पड़ रही थी। आह! इस समय यह पिस्तौल उनकी जान लेले!

सम्पतराय भी चकित, स्तम्भित—पत्थर की मूर्त्ति की तरह—खड़े, मास्टर साहब को निहारते रहे। उन्होंने अपनी विचार-शक्ति, विवेक-शक्ति और तर्क-शक्ति से काम लेने का यथा-साध्य प्रयत्न किया, परन्तु वे उनके साथ न रह सकीं। आगे बढ़कर उन्होंने मास्टर साहब की कलाई कसकर पकड़ ली और बैठकख़ाने की ओर खींच कर ले चले।

मास्टर साहब को जान पड़ा—मानों दहकते हुए लोहे के पञ्जे ने उनका हाथ छू लिया, मानों फ़ौलाद की उङ्गलियों ने उनकी कलाई दबा दी। एक बार भय-से चीख़ उठे। पर सम्पतराय ने इस चीख़

पर कुछ ध्यान न दिया और उनकी कलाई पकड़े उन्हें लिये हुए—घसीटते हुए—बैठकख़ाने में पहुँचे।

सुमित्रा दर्वाज़े पर खड़ी थी। वह भी दोनों के साथ-ही बैठकख़ाने में आई। उसने मास्टर साहब की झुकी हुई मूर्त्ति को घूरकर देखा। इस 'घूरने' में घृणा और निन्दात्मक अविश्वसनीयता की ऐसी ज़हरी-ली आँच थी कि यदि मास्टर साहब उसे देख पाते तो कम-से-कम एक बार थर्रा तो ज़रूर उठते। सुमित्रा की आँखों से आग की लपटें निकल रही थी, चेहरा क्रोध से स्याह-सा पड़ गया था, बत्तोसी भींच कर वह गहरे-गहरे साँस लेकर उनकी ओर देख रही थी।

सम्पतराय ने मास्टर साहब की कलाई छोड़दी, पिस्तौल दराज़ में डाल दिया और गम्भीर और कठोर स्वर में पुकारा—"मास्टर साहब !"

मास्टर साहब ने सगबगाकर एक बार नज़र उठाकर सम्पतराय की ओर देखा और फिर फ़ौरन्-ही नज़र नीची करली।

सम्पतराय ने चित्र मास्टर साहब के सामने फेंक-कर कर्कश स्वर में—ज़ोर-से—कहा—"मास्टर साहब ! यह क्या है ?"

घोर अनर्थ ! आख़िर वही हुआ ! हे पृथ्वी ! तू फट जा, मैं तुझमें समा जाऊँ !! क्या उत्तर दूँ ?

मास्टर साहब ने धीरे-धीरे सिर उठाकर सम्पतराय की ओर ताका। सम्पतराय ने देखा—उनकी आँखों में आँसू गले हुए शीशे या पारे की गोली की तरह बाहर आने को तैयार थे।

सम्पतराय ने मास्टर साहब की आँखों में सब से पहिले निर्दोषिता देखी, फिर दया-भिक्षा, विवशता, खिन्नता और अन्त में भीरुता देखी। मनो-वैज्ञानिक सम्पतराय मास्टर साहब की नज़र से प्रभावित हुए। स्वर भी कुछ नम्र हुआ। पूछा—"यह चित्र बनाने का कैसे साहस किया ? बताओ !"

मास्टर साहब ने हृदय का सारा साहस बटोर-कर यथा-साध्य निर्भीकता-पूर्वक—परन्तु काँपते हुए—कहा—"भाई साहब, आपको भारी भ्रम हुआ है।"

इस संक्षिप्त वाक्य में वह तेज था, जिसने सम्पत-राय पर फ़ौरन् असर किया। उन्होंने मास्टर साहब की टिपटिपाती आँखों पर दृष्टि जमाकर पूछा—"मुझे भ्रम हुआ है ?—भारी ?"

"हाँ, भारी भ्रम हुआ है।"

"यह चित्र क्या कह रहा है; यह स्त्री कौन है? सुमित्रा नहीं है? क्यों??"

मास्टर साहब ने एक बार सुमित्रा की ओर नज़र घुमाई फिर कहा—"यह चित्र? यह चित्र उनका नहीं है। वे मेरी माँ हैं।"

सम्पतराय के हृदय में मास्टर साहब की निर्दोषिता का विश्वास बढ़ने लगा। सुमित्रा ने भी उनकी बात साश्चर्य्य सुनी, पर उसका क्रोध कुछ घटा या नहीं—यह नहीं कह सकते। स्त्री का हृदय बड़ा ज़िद्दी होता है, एक बार कोई विचार स्थिर कर लेने पर वह उसे ग़लत करने या मानने में अपना अपमान समझती है। कैकेयी के हृदय में जब भरत को राज्य दिलवाने की कल्पना उठी या उठाई गई, तो राम के प्रति स्वाभाविकतया-ही उसे विरक्ति हुई होगी। पर जब पिता की वचन-रक्षा में राम ने महती तत्परता दिखाई और वे निर्विकार भाव से—प्रसन्न-चित्त—वन-गमन को तैयार हो गये तो क्या उसके हृदय में उनका आदर उत्पन्न न हुआ होगा? इसके दोनों उत्तर हो सकते हैं—हुआ हो, यह भी सम्भव है, न हुआ हो, यह भी। दोनों भाव-ही स्त्री-हृदय की इस ज़िद का

उदाहरण पेश करते हैं। यदि हुआ होगा—तो उसने अपना निश्चय नहीं बदलकर इस ज़िद का प्रमाण दिया,—यदि नहीं हुआ हो तो भी वह ज़िद प्रकट हो जाती है। मन्थरा-दासी की सिखावट में आई हुई स्नेह-पूर्ण कैकेयी राम के आत्म-त्याग को देख कर अवश्य प्रभावित हुई होगी; परन्तु राम के विषय में न उसने अपने उपेक्षित विचार बदले और न राम वन जाने से रुके। बस, इसी उदाहरण की तुलना हम सुमित्रा की मानसिक अवस्था से कर सकते हैं। प्रकट ऐसा-ही होता है कि उसके कोमल भाव मास्टर साहब के मुँह से 'माँ'-शब्द सुन कर अवश्य जागरित हुए होंगे, पर इतनी आसानी-से अपनी ज़िद छोड़कर या अपना निर्णय गलत मानकर वह प्रकृति और स्वभाविकता के विरुद्ध कैसे जा सकती थी?

रूपतराय पक्के मनो-वैज्ञानिक थे। आदमी को समझने का उनका गुण प्रकृति-दत्त था। मास्टर साहब के विषय में अपने उस गुण को असत्य होता हुआ देख वे बड़े अधीर थे। मास्टर साहब पर उनका घोर विश्वास जम गया था, और उनके चरित्र के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत उच्च थे। सुमित्रा के द्वारा उन्हीं मास्टर साहब की चरित्र-हीनता का लगभग प्रत्यक्ष

प्रमाण पेश करने पर भी वे निश्चय न कर पाये थे। कई अवसरों में रह-रह कर कईबार उनके मन में क्रोध और क्षोभ का धुँआ उठ चुका था, परन्तु सोच-विचार के बाद वे बार-बार जिस परिणाम पर पहुँचते थे, वह उनकी क्षणिक उत्तेजना को नष्ट करने वाला होता था। उनके इस भाव से कोई यह परिणाम न निकालें कि अपने मनो-विज्ञान को सत्य प्रमाणित करने के मुक़ाबले में अपनी पत्नी के अपमान को वे कुछ महत्व नहीं देते थे। अवश्य देते थे: यदि ऐसा आदमी उनके सामने विद्य-मान होता, जिसपर उन्हें अपनी पत्नी का अपमान करने का विश्वास होता—तो पता नहीं उनकी नाशीली प्रवृत्ति जाग कर उनसे क्या-कुछ करा डालती। पर मास्टर साहब के सम्बन्ध में उनके हृदय में उत्ते-जना का भाव पैदा-ही नहीं होता था, और इसको भी वे उनके पक्ष में एक युक्ति मान रहे थे। अब उनका वह निर्दोष और विवश भाव देखकर उन्हें सच-मुच कोई भारी भ्रम होने का विश्वास होने लगा। और जब मास्टर साहब ने कहा—"सुमित्रा मेरी माँ है", तब तो वे स्तम्भित-से उन्हें देखते रह गये। रोगी और पापी के मुंह से ये निर्दोष और प्रभावोत्पादक

शब्द नहीं निकल सकते—इसका उन्हें निश्चय था। उन्होंने प्रशंसा, प्रेम और सन्तोष-पूर्ण दृष्टि-से एक-टक मास्टर साहब को निहारा। फिर—कुछ देर बाद—अचानक पूछ बैठे—"अच्छा, रात के समय—चोरों की तरह—घर में क्यों घुसे थे?"

मास्टर साहब ने फिर सम्पतराय की तरफ़ हृदय-विदारक दृष्टि-पात किया। अर्थात् वे पूछ रहे थे—"क्या आपको मेरी निर्दोषिता पर विश्वास नहीं हुआ?"

फिर उसने मज़बूत और जमे हुए स्वर में उत्तर दिया—"मैं?—मैं इस चित्र को लेने गया था।"

"इस चित्र को लेने?—क्यों?"

"... ... ..."

"इस चित्र को लेने क्यों घुसे थे? सुमित्रा को पहले दिया-ही क्यों था यह चित्र?" सम्पतराय ने पूछा।

मास्टर साहब ने गर्दन को हरकत देते हुए कहा—"यही तो अनर्थ की जड़ हुआ! भाई साहब, भूल-से मैंने यह चित्र दे दिया। इनका चित्र यह है।"

मास्टर साहब ने यह कहकर हाथ का लिपटा हुआ चित्र सम्पतराय को दे दिया।

सम्पतराय ने उसे खोला। वह सुमित्रा के उस

फ़ोटो का तैल-चित्र था, जो उस दिन उन्होंने बसन्ती के हाथ मास्टर साहब के पास भेजा था। वे प्रसन्न हो उठे। मास्टर साहब की निर्दोषिता का विश्वास उनके हृदय में जम-सा गया। परन्तु उनके आलिङ्गन में आबद्ध यह रमणी कौन है ?

सुमित्रा ने भी आगे बढ़कर इस नये चित्र को देखा। उसे देखकर उसकी ज़िद का रक्त भी हलका पड़ने लगा। पर—पर मास्टर साहब के आलिङ्गन में आबद्ध चित्रित यह स्त्री कौन है ? क्या...? नहीं !

सम्पतराय ने अब अन्तिम प्रश्न किया—"यह चित्र-वाली रमणी—तुम्हारे बाहु-पाश में कसी हुई, चुम्बिता—कौन है फिर ?"

बस !—यही प्रश्न मास्टर साहब के लिये मौत था ! उनका चेहरा उतर गया। क्या उत्तर दें ? बसन्ती को बदनाम करें ??

मास्टर साहब चुप खड़े रहे।

सम्पतराय ने पुनः पूछा—"यह रमणी कौन है ?—यह किसी घटना का चित्र है या काल्पनिक ?"

मास्टर साहब फिर भी कुछ उत्तर न दे सके।

सम्पतराय के तीसरी बार वही प्रश्न करने पर

उन्होंने सिर उठाकर पूछा—"क्या इस प्रश्न का उत्तर दिये-बिना मेरी सम्मान-रक्षा नहीं हो सकती ?"

"नहीं हो सकती !" सुमित्रा ने उत्तेजित स्वर-से उत्तर दिया—क्योंकि अपनी ज़िद को क़ायम रखने वाली एक बात उसके दिमाग़ में आगई थी। उसने दोनों चित्र सम्पतराय के सामने करके सरोष कहा—"मेरे चित्र के सहारे इस......(दुष्ट) ने कल्पना-द्वारा इस चित्र का निर्माण करने का दुस्साहस किया है। देखिये, मेरे चित्र से इस...(पापी) का स्पर्श करती हुई स्त्री में कितना अधिक सादृश्य है !"

बात तो ठीक-ही थी। सम्पतराय ने मास्टर साहब की तरफ़ देखा। वे रोष-से काँप रहे थे। उन्होंने चिल्ला कर कहा—"मैं इस रमणी का नाम नहीं बता सकता। मुझे सम्मान-रक्षा की आवश्यकता नहीं !"

सम्पतराय ने नज़र जमाकर उन्हें ताका, और अचानक पूछा—"क्या बसन्ती का है ?"

अपमान से उन्मत्त मास्टर साहब के मुँह से निकल गया—"हाँ !!"

तब सुमित्रा ने उसी प्रकार चिल्लाकर कहा—"कदापि नहीं, अपना अपराध छिपाने के लिये बेचारी

बसन्ती पर यह व्यर्थ का दोष मढ़ा जारहा है।"

पर सम्पतराय को मास्टर साहब की बात पर विश्वास हो रहा था। उन्होंने पत्नी को सन्तुष्ट करने के विचार से आवाज़ दी—"बसन्ती! बसन्ती! पाँचू!!"

असल में बसन्ती दर्वाज़े पर खड़ी हुई सब बातें देख-सुन रही थी। मास्टर साहब ने अपनी रक्षा के लिये उसका अपमान किया—इस बात ने उसकी क्रोधाग्नि को और अधिक भड़का दिया। उसका बस चलता तो वह इस समय उन्हें कच्चा चबा डालती। सम्पतराय की पुकार सुनकर, मनो-विकार को सम्हाल कर उसने बैठकख़ाने में प्रवेश किया।

मास्टर साहब काँप उठे।

सम्पतराय ने वही पहला—अनर्थ की जड़—चित्र बसन्ती के सामने कर एक-दम पूछा—"बसन्ती! यह स्त्री क्या तुम हो?"

"मैं?" बसन्ती ने कहा—"छीः भाई साहब, आप को मुझसे ऐसी बात कहते लज्जा नहीं आती?"

सम्पतराय अपनी जल्द-बाज़ी पर बड़े शर्मिन्दा हुए। उन्होंने चेहरे की शर्म को छिपाने के उद्देश्य से पसीना पोंछने के बहाने मुँह पर हाथ फेरकर कहा—

"नहीं, मैं यह पूछता हूँ—इस चित्र के सम्बन्ध में कुछ बता सकती हो? देखो—सच-सच बताना!"

बसन्ती ने चित्र देखने का बहाना करते हुए अपने भावों को सम्हाला, और फिर उस चित्र को हाथ से परे हटाते हुए घृणा-पूर्ण स्वर में कहा—"छीः! कैसा घृणित, अश्लील चित्र है!"

सम्पतराय ने फिर भी हिम्मत न हारी। पूछा—"कुछ बता सकती हो इस चित्र के विषय में?"

बसन्ती ने साधारण भाव से—सम्पतराय से आँखें मिलाकर कहा—"मैं क्या जानूँ?"

सुमित्रा से बसन्ती पर यह अन्याय न सहा गया। उसने झपट कर अपना चित्र—फ़ोटो वाला, दूसरा—उठा लिया और पहले चित्र के बराबर लगा कर कहने लगी—"अब बता सकती हो—यह कौन स्त्री इस जगह चित्रित है?"

बसन्ती समझती थी, सुमित्रा क्या कहलाना चाहती है। उसने वही कह दिया। दोनों चित्रों पर दृष्टि-निक्षेप करते हुए बोली—"क्षमा कीजिये, इसके साथ देखने से तो यह स्पष्ट आपका.........."

बस—सुमित्रा प्रसन्न हो गई।

मास्टर साहब के निराश हृदय से एक लम्बी साँस निकल गई। उन्होंने पराजित, तेरा-भला-हो-भाव-भरी आँखें बसन्ती पर फेंकी। पर बसन्ती के नीचे सिर ने इस मर्मान्तक दृष्टि-से उसकी रक्षा करली। मास्टर साहब ने निराश होकर सम्पतराय की ओर देखा और सिर झुका लिया।

"मास्टर साहब!" सम्पतराय ने विचार-संघर्षण में पड़कर गम्भीर स्वर से कहा—"आप यहाँ से तशरीफ़ ले जाइये। बस!"

मास्टर साहब ने एक बार चारों तरफ़ नज़र घुमाकर देखा, और सम्पतराय को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे—उदास चाल से—कमरे से, सहन से और फिर ज़ीने से बाहर होगये।

जब दर्वाज़े का ताला बन्द कर पाँचू लौट आया तो सब के मुँह से गहरी साँसें निकल पड़ीं!

तीनों साँसें एक-सी थीं, पर कारण तीनों के भिन्न-भिन्न थे!

११

संघर्षण

सम्पतराय न तो मास्टर साहब की बातें भूल सके और न हृदय से उनकी निर्दोषिता के विश्वास को निकाल सके। अपराधी के मुख से ऐसे निर्भीक शब्द नहीं निकल सकते! अपराधी के चेहरे पर पश्चात्ताप होता है या भय होता है,—मास्टर साहब के चेहरे पर इन भावों का अभाव था, बल्कि जो भाव उनके चेहरे पर

साफ़ दिखाई दिया था, उसका अर्थ था कि मन-ही-मन अपनी सङ्कटमय अवस्था पर वे खिन्न थे। सुमित्रा के क्रोध को देखकर, और इस झमेले से घबराकर सम्पतराय ने मास्टर साहब को जाने की आज्ञा दी थी, पर रात को बहुत देर के विचार के बाद—सब बातों को सामने रखते हुए—उन्होंने परिणाम निकाला कि मास्टर साहब की बात सच्ची थी, और बसन्ती की झूठी।

सुबह उठते-ही उन्होंने मास्टर साहब को बुलाने का इरादा किया, पर रुक गये। कई बार सोचा—सुमित्रा से इस विषय में सम्मति लें, परन्तु उसके मुँह से प्रत्येक बात मास्टर साहब के विरुद्ध निकलने का उनको निश्चय था। सम्पतराय निश्चय न कर सके—मास्टर साहब के साथ अब क्या व्यवहार किया जाय।

दोपहर को—भोजन के बाद—उन्हें एक रजिस्टर्ड-पत्र मिला। प्रेषक थे, कोई—रासबिहारी गुप्त, वकील। सम्पतराय ने अब से पहले उनका नाम नहीं सुना था। अचरज के साथ लिफ़ाफ़ा फाड़कर पत्र निकाला। पत्र अंग्रेज़ी में लिखा हुआ, जिसका भाव यह था—

× × × ×

....

× × ×

प्रिय महोदय,

दुर्भाग्यवश हम दोनों परस्पर अपरिचित हैं। पर एक ऐसी बात आ पड़ी है, जिसने हमें परिचित बनने को बाध्य किया है।

मुझे सूचना मिली है, कि मुरारीलाल-नामक एक नौजवान आपके यहाँ गृह-शिक्षक नियुक्त है। उसके विषय में निवेदन यही है कि वह मेरा पुत्र है। एक मामूली बात पर उसने मुझे और घर-बार को छोड़ दिया। डेढ़ वर्ष उसे घर से ग़ायब हुए होगया। मैंने बहुतेरी खोज कराई, अख़बारों में विज्ञापन दिये। परन्तु कहीं पता नहीं लगा। आज अभी-अभी मुझे एक पत्र मिला है, और उसके साथ-ही, प्रेषक-महोदय का भेजा हुआ मुरारीलाल का एक पत्र भी। उस पत्र में उसने अपनी सारी सर-गुज़श्त दर्ज की है। पत्र पर उसने अपना जो पता लिखा है, वह आपकी मार्फ़त है। इसलिये इस पत्र-द्वारा मैं श्रीमान् को कुछ कष्ट देता हूँ, वह यह कि आप उसे अपनी देख-रेख में रखें, और कम-से-कम अब के बाद उसे किसी प्रकार का कष्ट न होने दें। उसे इस

(मेरे) पत्र की बाबत भी कुछ मालूम नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह फ़ौरन्-ही और कहीं चल देगा। आपके पास इस पत्र के पहुँचने के कुछ देर बाद-ही मेरे भी पहुँचने की आशा है, इस ट्रेन के निकल जाने के कारण-ही पत्र लिखने की आवश्यकता पड़ी है, अन्यथा इसके स्थान पर मैं स्वयं-ही उपस्थित होता।

आपका विश्वस्त—

रामबिहारी गुप्त

एम. ए. एल-एल. बी. वकील।

पत्र पढ़कर सम्पतराय उछल पड़े, अधीर हो उठे। मास्टर साहब का व्यक्तित्व इतना महान् है! वाह! तब तो मेरा अनुमान—उसके विषय में—बिल्कुल ठीक है। ज़रूर बसन्तो ने झूठ बोला! वह चित्र सुमित्रा से सम्बद्ध नहीं है।..........सम्भव है, बसन्ती पर मास्टर साहब का प्रेम हो, और वे.... ऐसा साहस कर बैठे हों। हो सकता है, इस अनुभव-शून्य युवक ने बसन्ती के मनो-भावों को समझने में धोखा खाया हो, और बढ़ा दिया गया हो अपनी युवक-वृत्तियों-द्वारा आगे।..... ज़रूर यही बात है।......क्या सुमित्रा को यह पत्र दिखायें?............नहीं, इसके लिये विचार

की आवश्यकता है।·········सुमित्रा के विचार मास्टर साहब के प्रति कैसे बदले जायँ ?

सुमित्रा भी रात-भर मास्टर साहब पर पेच-ताब खाती रही। मुझ पर कुदृष्टि फेंकी! धिक्कार है उसे! पापी ने मुझे कैसी घृणित दशा में चित्रित किया!··· ·······उसे अपना चित्र देकर-ही मैंने भूल की! उफ़! कैसा गम्भीर, साधु बना हुआ था, और उन पर तो मानों जादू-ही डाल दिया। तभी तो बचकर चला भी गया!—नहीं अपनी स्त्री पर नज़र डालने वाले को इस प्रकार आसानी से छोड़ा जा सकता है? उस दुष्ट को जेल भिजवाना चाहिये था!

पिछली रात की दो-तीन घण्टे की मादक नींद लेकर जब सुमित्रा उठी तो उसके भावों कुछ शिथिलता-सी आगई। क्रोध और रोष का वह प्राबल्य अब नहीं रहा था, पर मास्टर साहब की याद आते-ही मानों उसके सूखे घाव पर ठेस लगती थी। नहा-धोकर भी उसके मन का विषाद दूर न होसका। चुपचाप जाकर कमरे में बैठ गई।

बहुत देर तक सुमित्रा इस प्रकार सिर झुकाये बैठी रही, मानों किसी गहन विचार में निमग्न हो, पर असल

में उसके मन में कोई विचार नहीं था, या था भी तो उसे याद तक नहीं था—वह क्या सोच रही थी। यह अवस्था तब पैदा होती है, जब मन सोचते-सोचते थक जाता है, और उसमें अधिक विचारों के समावेश की गुंजाइश नहीं रहती। रह-रह कर उसके मुँह से लम्बी साँस निकल पड़ती थी। इस लम्बी साँस में दुःख नहीं था, पश्चात्ताप नहीं था, खेद भी नहीं था। क्या था—इसका निर्णय हम भी नहीं कर सकते।

अचानक उसने सिर ऊपर उठाया। उसकी नज़र सामने टँगी हुई फ़ीते वाली सिल्क की साड़ी पर पड़ी। कभी-कभी ऐसा होता है कि साधारण-से साधारण वस्तु भी हमें इस प्रकार अद्भुत-सी जान पड़ती है, मानों उससे, पहले—पूर्व-जन्म—का, हमारा कुछ सम्बन्ध हो। इस धोती का मेरे विचारों से कहाँ और क्या सम्बन्ध है?—वह इसी विचार में पड़ी।

ओह! याद आया! बसन्ती की धोती उस दिन गीली थी—वह इसे पहन कर मास्टर साहब को फ़ोटो देने गई थी! उस दिन रात को यह धोती उसी के कमरे में टँगी हुई थी।

सुमित्रा और भी अधिक चौंकी, जब उसे याद

आया कि फ़ोटो उसने वही धोती पहनकर खिचवाया था। एकाएक उसके सामने 'वह अश्लील चित्र', चित्र-वाली स्त्री का परिधान, और साड़ी की यह याद घूम गई! आँखें उसकी खुली रह गईं। क्या बसन्ती ने झूठ बोला? चित्र वहीं रखा था। उठाकर देखा—साड़ी के भीतर छिपा हुआ बसन्ती का शरीर उसकी पहिचान में साफ़ आ गया। आँखों के आगे से परदा-सा हट गया। बे-साख़्ता कह उठी—"क्या बसन्ती ने झूठ बोला?" हृदय ने उत्तर दिया—"हाँ!"

बसन्ती की दशा विचित्र थी। जब मास्टर साहब चले गये और वह कमरे में आई, चारों तरफ़ उसे उसी ख़ूनी की तरह सूना-सूना दिखाई पड़ रहा था, जो किसी कारण-वश धीरे-धीरे उत्तेजित होकर अन्त में ख़ून कर-ही डालता है। कमरे में चारों तरफ़ इस प्रकार हकबका-कर ताकती थी, मानों कोई उसे आवाज़ देकर बुला रहा है। हवा ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी, बिजली की बत्ती मानों उसके काम से नाराज़ होकर लाचारी से अपना कर्त्तव्य-पालन कर रही थी, कमरे की दीवारें उदास खड़ी उसे धिक्कार रही थीं, आले में रखा हुआ बड़ा टाइम-पीस मानों कह रहा था—"मास्......टर......सा

······हब! मास् ···टर······सा······हब !!" उसके हृदय में भीतर-ही-भीतर मानों कोई शोक-जनक बाजे बजा रहा था, हृदय में तेज़ी-से धक्-धक् हो रही थी, मुँह पर कलौंस दौड़ गई थी। बसन्ती घबरा-कर खाट पर गिर पड़ी। मुँह तकिये में छिपाकर सोने का प्रयत्न करने लगी।

पर घड़ी ने "मास्······टर······सा······हब !" और ज़ोर-ज़ोर से कहना शुरू कर दिया था। कमरा निस्तब्ध था, उसमें यह घड़ी की आवाज़ उसे बड़ी भयङ्कर जान पड़ी, बड़ी अपमान-जनक जान पड़ी और बड़ी कर्कश सुनाई दी। उसने उसे बन्द करने का प्रयत्न किया, पर वह बराबर—"मास् ···टर······सा······हब! मास्······टर ···सा······हब !!" की धुन लगाये जाती थी। एक बार उसके जी में आया—घड़ी उठा कर फेंक दूँ, फिर याद आया—वह उसकी सम्पत्ति नहीं है। उसने सन्दूक खोला, और भीतर—कपड़ों में—घड़ी को छिपा कर रख दिया।

अब उसे घड़ी की खिल्ली उड़ाने-वाली आवाज़ सुननी बन्द हो गई। कुछ मिनट इससे शान्ति मिली, पर फिर वह कमरे की चिर-परिचित निस्तब्धता फाड़

खाने को आने लगी।

बदले की आग बुझ जाने के बाद उठा हुआ ज़हरीला धुँआ पैदा हो कर सहृदय मनुष्य का ऐसा-ही व्याकुल भाव बना देता है!

तब बसन्ती का मन उससे एक-दम विद्रोह कर बैठा। बहुतेरा समझाया, बहुतेरा बहकाया-फुसलाया, पर सब निष्फल! ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगा—"मास्......टर......सा......हब! मास्......टर......सा......हब!"

उसे जान पड़ा—मानों सारा संसार, यहाँ तक कि उसका अपना हृदय भी, मास्टर साहब की तरफ़ हो गया है, और उस के हृदय के साथ मिल कर सारा संसार उस पर आक्रमण कर देगा। उसने भय की हलकी-सी चीख़ मारकर कपड़ा ओढ़ लिया और चारों तरफ़ से इस प्रकार दाबकर, साँस रोककर, पड़ रही, मानों यह वस्त्र-ही सारे संसार के मुक़ाबले में ढाल बनने के लिए काफ़ी है।

कपड़ा ओढ़े-ओढ़े उसके शरीर में पसीना आ गया। तब उसके डर का—उसकी घबड़ाहट का—कुछ अंशों में नाश हुआ। उसने हिम्मत करके इस प्रकार धीरे-धीरे वस्त्र उठाया, मानों मुँह उघाड़ते-ही कोई उस पर छुरे

का वार करेगा।

कमरे में बिजली का पङ्खा न था। उसने तौलिया खूँटी से उतार कर पसीना पोंछा, खिड़की खोलदी; हवा लगने से ज़रा तबियत स्वस्थ हुई। पर दस मिनट बाद-ही विचारों के तूमार ने पुनः तङ्ग करना आरम्भ किया। छोटे-से टेबुल पर लिखने-पढ़ने का सामान रखा था। दो-एक पुस्तकें भी पड़ी थी। बसन्ती ने सिरहाने से उठाकर तकिया पाँयतों में—खिड़की की तरफ़—लगा लिया, और एक पुस्तक उठाकर लेटी-लेटी पढ़ने लगी—जिससे जल्दी नींद आजाय। पर नींद का नाम-निशान नहीं था। पता नहीं आज नींद उसे सुलाने से क्यों डर रही थी? उसने पुस्तक उठाकर दूर फेंक दी, कुर्सी खींच कर मेज़ के सहारे बैठ गई, क़लम दवात में डुबोई और धोबी के घर के कपड़ों की कॉपी उठाई, और उस कॉपी के एक उजले काग़ज़ पर लिखने लगी—चार धोती. छः कुरते, पाँच बनियान। इसके सिवा और बेचारी लिखती भी क्या?

इस बेगार में भी चित्त न लगा। तब वह खीज कर उठी, रसोई-घर में गई, एक ग्लास पानी भरा, और गट-गट करके बिना-प्यास-ही आधा खाली कर

गई। तब आकर बत्ती बुझा दी, तकिये पर कनपटी रख-कर, निस्तब्ध होकर लेट रही। पर हाय! नींद फिर भी नहीं आई!

फिर बैठ गयी। अँधेरे में कमरे की चीजों ने भाँति-भाँति के रूप धारण कर लिये, टेबुल ने एक भयङ्कर-मुख, विशाल-काय, बैठे हुए दैत्य का रूप धारण किया, कुर्सी उस दुबले-पतले काल्पनिक पिशाच से सादृश्य दिखाने लगी, जो दोनो हाथ उठाये,दैत्य के पीछे उकड़ूँ बैठा हो। दीवार की आलमारी का पल्ला खुला हुआ था, वह ऐसा जान पड़ा, मानो कोई आदमी दीवार के साथ चिपका हुआ हो। बसन्ती ने घबराकर पुनः बत्ती खोलदी। एक-बार—हारकर उसने निश्चय किया—मास्टर साहब के विषय में विचार उत्पन्न होने से न डरूँगी। सचमुच वह फिर डरी भी नहीं। उसने मास्टर साहब की एक-एक बात पर विचार करना आरम्भ किया। अगर हम एक आदमी के विषय में—जिससे हम घोर घृणा करते हैं—संयत या असंयत अवस्था में,विचारने को तैयार होजाँय, तो अन्त में उसकी तरफ़ से चित्त में अवश्य एक प्रकार की उदार भर्त्सना का आविर्भाव हो जायगा, तथा कोमल भावों की उत्पत्ति होजायगी।

घण्टों सोचती रही—सोचती रही—सोचती रही, और जब सुबह की सफ़ेदी आस्मान पर फैल रही थी, और पक्षी बोलने लगे थे तो उसने यह कहकर अपनी विचार-शृङ्खला का अन्तिम सिरा छोड़ दिया:—"मास्टर! मैंने तुम से बदला ले लिया! तुम मुझ से उपेक्षा करते थे! मेरे मन में कोई पाप नहीं था। तुमने मुझे समझा क्या?···तुम मेरे अपमान के कारण बने।···मैंने जो किया उसके लिये मुझे अफ़सोस नहीं है। भविष्य में किसी स्त्री के प्रति ऐसा अन्य-मनस्क भाव न रखना। तुमने मेरे-प्रति विरक्ति प्रकट की, मैं तुम से घृणा करती हूँ, घोर घृणा करती हूँ!!"

उसे बड़ी थकान मालूम हुई, मन बड़ा ख़राब-सा जान पड़ा। बत्ती बन्द की, और अँगड़ाई लेकर शरीर पलँग पर फैला दिया, और सोगई।

उठी तो आठ बजे थे। चौंक पड़ी। हैं! आठ बज गये! पिछले-पहर जो स्वप्न देखा था—उसका प्रभाव अभी तक मस्तिष्क पर था। पाँचू को बुलाया और कहा—"जाकर चुपके-से देख तो आओ, मास्टर साहब अपने घर में हैं या नहीं और अगर हैं तो क्या कर रहे हैं।"

पाँचू फ़ौरन् चल दिया। दस मिनट बाद लौटा, बसन्ती नहीं थी। आध-पौन घण्टे में नहा-धोकर लौटी तो उसे बताया—"मास्टर साहब सामान बाँध-जूँध रहे हैं, कहीं जाने की तैयारी में मालूम होते हैं।"

बसन्ती व्याकुल हो उठी। जी में आया—अभी दौड़कर वहाँ पहुँच जाऊँ। पर वहाँ जाकर करूँगी क्या?—इस प्रश्न का उत्तर उसका मन न दे सका। उसने पाँचू से पूछा—"तुमने कुछ बात की? मालूम किया—कहाँ जा रहे हैं?"

पाँचू अपनी बेटी की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना जानता था। उसने मुँह बनाकर कहा—"इसके लिये तुमने कब कहा था?"

बसन्ती बोली—"सब सामान बाँध लिया था? क्या अभी जाना चाहते हैं?"

पाँचू ने कहा—"सामान-ही उनका क्या है? चारपाई तो गली में खड़ी थी, फ़ोटो-कैमरा एक गठरी में बँधा रक्खा था, घड़ा गली की भङ्गिन को देदिया था, और बाक़ी सामान को समेट-समाट रहे थे।"

बसन्ती ने पूछा—"उन्होंने तुझे देखा था?"

"हाँ, देखा तो था।"

बसन्ती और अधीर होकर बोली—"और कुछ पूछा नहीं ?"

"नहीं तो," पाँचू ने कहा—"बात तक नहीं की; बल्कि देख कर मुँह फेर लिया।"

"क्या बहुत उदास हो रहे थे ?"

"हाँ" पाँचू ने गम्भीरता से कहा—"उदास क्या—ऐसा मालूम होता था, मानों अभी रो पड़ेंगे, या अभी रोकर चुके हैं।"

"अच्छा !" बसन्ती ने कहा—"तो तुम से कुछ कहा नहीं।"

"नहीं ! नहीं !" पाँचू नाराज़ होकर बोला—"कह तो रहा हूँ, मेरी तरफ़ देखना तक पसन्द नहीं किया।"

बसन्ती चाहती थी - पाँचू, मास्टर साहब के हृदय-तक का हाल कहदे, कम-से-कम उनके बाह्य भाव, व्यवहार और गति-विधि का तो विस्तृत और सन्तोष-जनक वर्णन् कर-ही दे। परन्तु वह जानने के लिये जितनी अधिक उत्सुक होती जाती थी, पाँचू बताने में उतना-ही सुस्त होता हुआ जान पड़ रहा था। बसन्ती विवश,—क्या-करूँ-भाव बनाये हुए—रसोई-घर में घुसी, पन्द्रह-बीस मिनट में रसोई तैयार कर डाली,

और सम्पतराय और सुमित्रा के कमरे में खाना भेजा, दस बजते-बजते वह सब कामों से निबट गई।

तब उसने सम्पतराय के पास जाकर कहा—"भाई साहब! मुझे एक धोती-जोड़े की ज़रूरत है, मैं पाँचू के साथ बाज़ार जा रही हूँ।"

यही वह समय था, जब सम्पतराय वकील साहब का पत्र लिये हुए गहन चिन्ता में पड़े हुए थे।

बसन्ती ने आज से पहले कभी इतनी बे-तकल्लुफ़ी के साथ अपनी आवश्यकता का प्रकाश नहीं किया था। सम्पतराय या सुमित्रा के बार-बार अनुरोध करने पर कहीं वह कोई कपड़ा स्वीकार करती थी। भला वे मना कैसे करते? फिर एक बात विचारकर बोले—"आज बक़रीद का तीसरा दिन है। हिन्दू-मोहल्लों से गाय निकलेगी। झगड़े का डर है। बाज़ार भी आधा खुला है, आधा नहीं। इस समय न जाओ। कल मैं स्वयं कोई अच्छा-सा जोड़ा तुम्हारे लिये ला दूँगा।"

बसन्ती ने बच्चों की तरह ज़िद पकड़कर कहा—"डर क्या है, भाई साहब?—पास-ही तो बाज़ार है, अभी लौट आती हूँ। पाँचू साथ है-ही।"

सम्पतराय अधिक न कह सके। उसके जाते-जाते

एक बार कहने को हुए--"मास्टर साहब को बुलानी लाना !"--पर फिर रुक गये। भला इससे पत्र की बात अभी कहने से क्या लाभ ?"

अध-मँजे बर्तन ज्यों-के-त्यों छोड़, आज्ञाकारी पाँचू बेटी के साथ चला।

बसन्ती गली में से गुज़री तो मास्टर साहब की बैठक का गलीवाला दर्वाजा बन्द था। एक बार धक्-से रह गई। क्या चले गये ? पर पास पहुँच कर सुना--मास्टर साहब किसी से कह रहे हैं--"आप कहते हैं तो शाम की गाड़ी से चला आऊँगा।"

कुछ निश्चिन्त-सी होकर वह आगे बढ़ी।

१२

रक्षा

धोती-जोड़के दाम भी नहीं चुक पाये थे कि चारों तरफ़ हल्ला मच गया—"झगड़ा हो गया ! दुकान बन्द करो ! भागो ! भागो !!"

दूकानदार लोग पहले से-ही सतर्क थे। पलक-झपकते खट-खट-खट सब दूकानों के किवाड़ बन्द होगये और दूकानदार दूकानों के अन्दर !

पाँचू और बसन्ती—दोनों-ही—अवाक् खड़े थे। सड़क पर भगदड़ मची थी। सामने से—कोई आधी फ़र्लाङ्ग दूर—सैकड़ों मुसलमान लाठो, छुरे, बाँस-इत्यादि हाथों में लिये एक गाय के पीछे दौड़े आरहे थे, और उन के आगे-पीछे निहत्थे और लाठियाँ लिये हुए हिन्दुओं का झुण्ड था और सब से पीछे थे—पुलीस के पगड़ी-धारी सिपाही।

एक मिनट तक दोनों हतबुद्धि-से होकर मुसलमानों की भयावह गति-विधि का निरीक्षण करते रहे। दौड़ते-दौड़ते वे लोग बाज़ार के दोनों तरफ़ दूकानों के बन्द किवाड़ों पर बाँस मारते जाते थे, और रास्ते में कोई हिन्दू मिलता, तो उसे लाठियों या छुरों से घायल करके डाल देते थे। चारों तरफ़ भयङ्कर दृश्य उपस्थित था!

तब बसन्ती और पाँचू भी भागते हुए हिन्दुओं के झुण्ड में मिलकर भागने लगे। बसन्ती तेज़ दौड़ रही थी, वह पाँचू से कुछ आगे निकल गई। उसकी प्रतीक्षा के लिये वह ठिठकी तो पाँचू ने वहीं से ललकार कहा—"भागो! भागो! ठहरो मत, मैं भी आता हूँ।"

बसन्ती भागी—जी छोड़ कर भागी। एक बार पीछे सिर फिराकर देखा—मुसलमान क्षण-क्षण पास

मजबूती से दोनों बाह पकड़ कर किसीने ऊपर उठा लिया।

होते जा रहे हैं, पाँचू का कहीं पता नहीं है। शायद बेचारा किसी की लाठी या छुरे का शिकार बना!

अन्त में वह गली आई, जिसमें उसे मुड़ना था। पर आततायी भी सिर पर आपहुँचे थे। बसन्ती गली में घुसी। उनके साथ-ही और दो-चार आदमी भी मुड़े। गाय के पीछे दौड़ते हुए मुसलमानों में से पाँच-सात गुण्डे 'औरत' को देखकर उसी मुहल्ले में, उसके पीछे-पीछे दौड़े आये। बसन्ती के साथ मुहल्ले में आने वाले—परिचित—सब आदमी अपने अपने-अपने घरों में घुस गये। बसन्ती अकेली रह गई। निःसहाया वह तीस क़दम पर गुण्डों को देखती हुई सहायता के लिये ज़ोर-से चिल्लाई।

कई आदमी छज्जे खोले, ऊपर खड़े, यह तमाशा देख रहे थे, पर किसी माई के लाल का साहस नीचे आकर उसकी सहायता करने का न पड़ता था। सम्पतराय की हवेली अभी कोई दो सौ गज़ परे—गली के अन्त में—थी। बसन्ती भय की चीख़ें मारती हुई दौड़ी; पर इस समय उसके पैर उठने दूभर हो रहे थे।

गुण्डे क्षण-क्षण पास होते जा रहे थे। उसने ज़ोर-से चीख़ मारी। पर उसकी चीख़ की गूँज विलीन भी न होने पाई थी कि अचानक कहीं से आवाज़ आई—

"अरे, बसन्ती !"—और दूसरे-ही क्षण किसी ने उसकी दोनों बाँहें मज़बूती से पकड़कर उसे ऊपर उठा लिया। गुण्डे निराश होकर लौट गये !

बसन्ती ने आँख खोलकर पहिचाना—उसके रक्षक मास्टर साहब थे !

× × × ×

बसन्ती ने रोते हुए कहा—"मास्टर ! मास्टर ! मुझे क्षमा करो ! मैंने बड़ा पाप किया है !"

मास्टर साहब ने अलग हटकर और चिन्ता-से स्याह चेहरा ऊपर उठाकर कहा—"बसन्ती, सत्य को छिपाकर तुमने अपनी आत्मा को धोखा दिया है, और मेरी आत्मा को महान् कष्ट पहुँचाया है। मैंने मदान्ध होकर तुम्हें समझने में भूल की। मैंने तुम्हारे साथ जो निन्दनीय व्यवहार किया, उसका इससे भी कठोर दण्ड मिलना चाहिये था, पर तुमने अपनी सद्वृत्तियों पर जो अत्याचार किया है, उसका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा।"

बसन्ती ने ज़ोर-से मास्टर साहब के पैरों से चिमटकर कहा—"मास्टर !······प्यारे मास्टर !·· मेरे नाथ ! तुमने मुझे समझने में भूल की, इसी से ऐसा हुआ। अब·········क्षमा !"

मास्टर साहब पैर छुड़ाकर अलग हट गये और गम्भीर परन्तु प्रसन्न स्वर में कहने लगे—"मैं तुम्हें सुबह-ही क्षमा कर चुका। परन्तु मेरा कलङ्क··· !"

तब बसन्ता ने भक्ति-पूर्वक दोनों हाथ जोड़े, सिर नवाया, और तब दर्वाज़ा खोलकर उन्मादिनी-सी बनकर घर को चली।

× × × ×

सुमित्रा धीरे-धीरे पति के पास—बैठक में—आई। बोली—"एक बात कहूँ ?"

"क्या ?"

"नाराज़ तो न होगे ?"

सम्पतराय ने निषेधात्मक सिर हिलाया।

"मुझे ऐसा सन्देह होता है कि—"

"··· ·········?"

"—मास्टर साहब····· "

"······· ····???"

"सच कह रहे थे।"

सम्पतराय ने उछलकर कहा—"ठीक! कैसे हुआ यह सन्देह ?"

सुमित्रा ने धोती की सब बात सम्पतराय को सुनादी।

सम्पतराय ने हर्ष-ध्वनि की, और वकील साहब का पत्र दिखाकर सब बात सुमित्रा को सुनाई।

सुमित्रा ने सब सुनकर कहा—"बड़ा अन्याय हुआ!"

"मास्टर साहब के साथ न?"

"हाँ, बड़ा दुःख है!"

इतने टेलीफ़ोन बज उठा। सम्पतराय ने सुना—"मैं हस्पताल से बोल रहा हूँ। आपको शायद पता हो, शहर में हिन्दू-मुस्लिम-फ़िसाद हो गया है। आपका नौकर पाँचू ज़ख़्मी होकर यहाँ आ गया है। इसको साधारण चोट लगी है। वह आपसे पूछना चाहता है—बसन्ती कुशलपूर्वक घर पहुँच गई है न?"

सम्पतराय सन्न हो गये—"फ़िसाद हो गया?… नहीं, बसन्ती तो यहाँ नहीं पहुँची। क्या हस्पताल में वह भी तो नहीं पहुँच गई?"

"नहीं, ज़ख़्मियों में कोई भी स्त्री नहीं है!"

सम्पतराय ने सब बात सुमित्रा से कही। सुनकर सुमित्रा बड़ी चिन्तित हुई। सम्पतराय जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर बसन्ती की खोज में बाहर जाने को तैयार हुए।

पर दर्वाज़े पर-ही बसन्ती उन्हें बदहवास दौड़कर आती हुई मिल गई। उसे साथ लेकर वे ऊपर आये।

बसन्ती ने ऊपर आकर सुमित्रा और सम्पतराय के सामने, वीरतापूर्वक कहा—"भाई साहब! मैंने झूठ बोला था!!"

दोनों ने उछलकर पूछा—"कौन-सा झूठ?"

बसन्ती ने कहा—"रात को!"

"रात को?"

"हाँ," बसन्ती ने सिर ज़रा झुकाकर कहा—"वह चित्र मेरा था। मैं मास्टर साहब को प्यार करती हूँ।"

क्षण-भर के लिये पति-पत्नी स्तम्भित रह गये। फिर सम्पतराय ने ताली बजा कर हर्ष-पूर्ण स्वर में कहा—"हुर्रा! (Hurrah!)"

इतने में किसी ने नीचे से सम्पतराय का नाम लेकर आवाज़ दी। सम्पतराय ख़ुद नीचे गये। बाहर दो आदमी खड़े थे। दोनों ने अपना परिचय दिया।

एक थे वकील साहब, और दूसरा हेतराम।

सम्पतराय आदर के साथ आगन्तुकों को ऊपर लाये। ऊपर आकर सुमित्रा और बसन्ती की तरफ़ देख कर बोले—"चलो, मास्टर साहब से क्षमा माँग आयें।"

बसन्ती कहने को हुई—"आप जाइये, मैं क्षमा माँग आई हूँ।"—पर फिर कुछ सोचकर चुप रही।

सुमित्रा कपड़े पहनने चली गई। इतने में टेलीफ़ोन की घण्टी फिर बजी। हस्पताल से उसी पहले वाली आवाज़ ने कहा—"पाँचू रोरहा है, वह पूछता है—बसन्ती सकुशल अभी तक पहुँची या नहीं?"

बसन्ती ने स्वयं टेलीफ़ोन लेकर कहा—"उससे कहदो, मैं सकुशल आ गई हूँ: वह चिन्ता न करे।"

× × × ×

वकील साहब बे-साख़्ता मुरारी का गले चिपटाकर रोने लगे। फिर हेतराम मिश्र से मिला।

वकील साहब ने प्रेमाश्रु बहाकर कहा—"बेटा मुरारी! मुझे क्षमा करो, सावित्री को भी क्षमा करो, रतन को भी क्षमा करो।"

मुरारी ने हर्ष-भरे स्वर में कहा—"वे लोग सानन्द हैं?"

"नहीं!" वकील साहब ने कहा—"रतन कुँए में डूब कर मर गया। अपने पत्र में वह सब बात लिख गया। मैंने तुम्हारे व्यक्तित्व का अनुमान लगाने में सचमुच घोर अनुदारता से काम लिया; जैसा तुमने हेतराम को

लिखा था।"

मुरारी यह दुस्समाचार सुनकर दुःखी हुआ, फिर एक सप्रेम-दृष्टि हेतराम पर फेंककर बोला—"बहन (सावित्री)-जी अच्छी हैं ?"

"नहीं !" वकील साहब ने आँसू पोंछते हुए कहा—"उनका भी देहावसान होगया ! तभी से तुम्हारी खोज कर रहा था।··· ···मुझे क्षमा करो बेटा !"

मुरारी ने वकील साहब के चरण छुए।

जब सब स्वस्थ हुए तो सम्पतराय ने स-खेद कहा—"भाई मुरारीलाल, मुझे भी क्षमा करना, बसन्ती ने आप-ही सन्देह दूर कर दिया है।"

सुमित्रा ने नीची नज़र कर कहा—"मास्टर साहब—क्षमा कीजियेगा !"

मास्टर साहब ने मुस्कुराकर चारों तरफ़ देखा, फिर लज्जा-से सिकुड़ी हुई बसन्ती पर नज़र जमाकर धीरे-से हँस दिये।

बेचारा पाँचू बसन्ती के सकुशल पहुँचने का समाचार सुनकर-ही प्रसन्नता से विह्वल हुआ जा रहा था !

परिशिष्ट

मुरारी ने गोद में लेटी हुई बसन्ती से एक रात को कहा—"प्यास लगी है।"

बसन्ती उठी, कुछ सोचा, और फिर आवाज़ दी —"पाँचूरे!... ..."

पाँचू अपनी बेटी का साथ उसकी ससुराल में भी नहीं छोड़ सका था।

मुरारी ने रोककर कहा —"तुम्हीं लाओ; तुम क्यों नहीं लातीं?"

बसन्ती हँसी। बोली—"मुझे अनुमान हुआ—शायद पहली दो बार की तरह अब भी तुम मेरे हाथ का पानी न पियो।"

मुरारी ने समझाया—"सम्पतराय ने मुझे बताया था—'हम इसे कुटुम्बी की तरह रखना चाहते हैं, पर यह दासी की तरह रहना चाहती है।'—इसी लिये मैं ने तुम्हारे हाथ से पानी लेकर पीने में तुम्हारा अपमान समझा। समझीं?"

बसन्ती कहा—"आह!"

—और तब उसने एक ग्लास शर्बत पति को पिलाया।

—बस!

पैसे का साथी

(लेखक—श्री ऋषभचरण)

बुरे साथियों की सङ्गति में पड़कर पढ़े-लिखे बुद्धिमान युवक कितना शीघ्र पतन के गढ़े में गिर जाते हैं, प्रेमिका के कपट-प्रेम का भेद खुलने पर हृदय में किस गहन अनुताप का प्रादुर्भाव होता है, प्रेम-प्रपञ्च में पड़कर मनुष्य कैसा नीचातिनीच कर्म करने पर उतारू हो जाता है, इस पुस्तक के नायक के चरित्र में लेखक ने इन सब बातों का विवेचन अत्यन्त सफलता-पूर्वक किया है। इसके सिवा हिन्दू और मुसलमानों के चरित्र पर एक निष्पक्ष दृष्टि डालकर पुस्तक को सर्वोपयोगी बना दिया गया है। दूसरा संस्करण छप रहा है।

सवा दो सौ उजले पृष्ठ! सात चित्र!! मूल्य १॥) रु०

नौ आँसू

(लेखक—श्री आत्माराम देवकर)

देवकरजी की गल्पों में मनोरञ्जन और माधुर्य्य के साथ-साथ गद्य-काव्य का-सा मज़ा रहता है। 'नौ आँसू' में आपकी नौ उत्कृष्ट गल्पों का संग्रह है। हरेक गल्प दिल गुदगुदानेवाली, और एक छोटे-से उपन्यास का मज़ा देने-वाली है। इसकी कई गल्पें 'माधुरी' और 'हिन्दी-मनोरञ्जन'-जैसे प्रसिद्ध मासिक पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। भाषा इतनी सरल और प्रवाह-पूर्ण है कि प्रत्येक साधारण हिन्दी पढ़ा-लिखा भी आसानी से समझ सकता है। दूसरा संस्करण छप रहा है।

४० पाउण्ड एण्टिक पेपर पर उम्दा छपाई! मूल्य १)

बिखरे-मोती

(लेखक—श्री ऋषभचरण)

इस पुस्तक में लेखक की एक दर्जन मौलिक और मनो रञ्जक कहानियों का संग्रह है। छोटे-से-छोटे कथानक और भाव में पाठक के अन्तस्तल में चुटकी लेना-ही कहानी की सफलता है। लेखक की इन सभी गल्पों में यह गुण पूर्ण-रूप से विराजमान है। कोई भी कहानी ऐसी नहीं है, जिसे समाप्त करने में पन्द्रह मिनट से अधिक समय लगे। प्रत्येक कहानी आदि से अन्त तक ऐसी प्रवाह-पूर्ण है, कि बिना समाप्त किये नज़र उठाने की इच्छा नहीं होती। शब्द-जाल, सरलता, मनोरञ्जन और व्यङ्ग—सभी का कुछ-न-कुछ समावेश इन में है। पुस्तक प्रत्येक देवी और पुत्री-द्वारा निस्सङ्कोच पढ़ी जा सकती है। बालक-बालिकाओं को उपहार में देने योग्य है। तिरङ्गा कवर! पौने दो सौ पृष्ठ!! दाम ॥)

सेठजी

'सेठजी' एक शिक्षाप्रद उपन्यास है। एक लक्षाधीश सेठ दुर्व्यसनों में फंसकर अपना सर्वनाश कर लेता है। सेठ में सभी प्रकार के दुर्गुण भरे हैं। वेश्या-गामी वह है, शराब-ख़ोर वह है, और सबसे भयङ्कर दुर्गण बाल-व्यभिचार का रोग उसमें है। उसका मित्र और उसकी साध्वी पत्नी उसे दुर्गुणों से उबारने का बहुतेरा प्रयत्न करते हैं, परन्तु वह सम्हल नहीं सकता है, और अन्त में उसकी और उसके चाकलेट किशोरी की जैसी दुर्दशा होती है, वह हृदय में स्वतः-ही बुरे कामों की तरफ़ से घृणा उत्पन्न कर देती है।

पृष्ठ १५०, मूल्य दस आना

दिल्ली का व्यभिचार

(लेखक — श्री 'विद्रोही')

यह वही उपन्यास है, जिसके प्रकाशन का प्रत्यक्ष फल हुआ। जिसके प्रकाशित होते-ही दिल्ली में धड़ाधड़ व्यभिचार के अड्डों का भण्डा-फोड़ होना शुरू हुआ। जिसे लेकर दिल्ली के स्कूलों मे अनेक दुश्चरित्र लड़कों को निकाल दिया गया। पाखण्डी पीर साहब की लड़का देने के लालच में अबलाओं का सतीत्व-नाश करने की लोम-हर्षक आँखों-देखी घटना! नर-पिशाच स्काउट-मास्टर का सुन्दर बालकों का नाश करने का मार्मिक वृत्तान्त! विधवाओं को आश्रय देने वाले 'अबलाश्रम' के मैनेजर साहब की दिल हिला देने वाली करतूतें! व्यभिचारियों के दुष्कर्म में बाधक होने पर एक वीर युवक का हृदय-वेधक बलिदान! 'हीजड़े की स्त्री' की रहस्य-पूर्ण कहानी! इत्यादि-इत्यादि अनेक कमज़ोर पहलुओं पर चुभती हुई, प्रभाव-शाली भाषा में निर्भीक प्रकाश डाला गया है। दूसरा संस्करण बड़ी सज-धज के साथ छप रहा है। आज-ही ऑर्डर दीजिये। चार चित्र! दो सौ पृष्ठ!! मूल्य १) रु०

गऊ-वाणी

(लेखक—श्री ऋषभचरण)

गो-रक्षा की अनुपम पुस्तक समस्त धर्म-ग्रन्थों के उद्धरण देकर यह बात सिद्ध कर दी गई है कि गो-वध-सम्बन्धी उनके समस्त उल्लेख अलङ्कारिक-भाषा में लिखे हुए हैं और गो-वध की आज्ञा कहीं भी नहीं दी गई है। संसार के समस्त गो-भक्तों के लिए आदरणीय वस्तु है। मूल्य ।॥=)

मास्टर साहब

(ले०—श्री ऋषभचरण)

अपने व्यक्तित्व पर कलङ्क लगता देख, युवक मास्टर साहब अत्यन्त शान्ति और निस्तब्धता के साथ, अनन्त वैभव को लात मारकर अपनी जीवन-नौका को भाग्य की पतवार के सहारे विस्तृत संसार-सागर में डाल देते हैं। वर्षों सुख और समृद्धि में जीवन बिताने पर भी वे जिस गम्भीरता के साथ अपने विपत्ति के दिन काटते हैं, उसे पढ़कर सहानुभूति से हृदय भर जाता है। कट्टर समाज-सुधारक सम्पतराय संयोगवश मास्टर साहब से मिलते हैं, और उन्हें अपनी पत्नी का शिक्षक नियुक्त करदेते हैं। सम्पतराय की स्व-जातीय दासी बसन्तो के हृदय में मास्टर साहब के प्रति एक-दम घोर सहानुभूति और स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु वह, गम्भीर मास्टर साहब के मनोभाव न समझकर, कठपुतली की तरह स्त्री-हृदय की रङ्गीन तरङ्गों में चक्कर लगाती है। एकाएक उपेक्षा की इतनी गहरी छाप उस के हृदय पर पड़ती है कि वह मास्टर साहब के अपमान का कारण बन जाती है। फिर मास्टर साहब की विशाल-हृदयता उसकी समस्त दुर्भावनाओं को नष्ट, कर उसे मास्टर साहब का कलङ्क धोने पर बाध्य करती है। अन्त में भ्रम और सन्देह का नाश होकर सब का सुखद मिलन होता है। 'मास्टर साहब' लेखक की अमर कृति है।

पाँच रङ्गीन चित्र ! ढाई सौ पृष्ठ !!

मूल्य दो रुपया।

फाँसी

(लेखक—श्री जैनेन्द्रकुमार)

'फाँसी' में तीन राजनैतिक कहानियाँ संगृहीत हैं। १. फाँसी, २. ग़दर के बाद, ३ षड्यन्त्र। पहली कहानी 'फाँसी' में अँग्रेज़ी सरकार का दिल हिला देने वाले एक भयङ्कर हिन्दुस्तानी डाकू का चरित्र है, जो अंग्रेज़ों की नज़रों में डाकू और हिन्दुस्तानियों की नज़रों में दीन-दुखियों का सहायक, गुलामी का विरोधी, विदेशी सरकार का विद्रोही—कट्टर देश-भक्त था। इस असाधारण पुरुष के धैर्य्य-पूर्ण, उच्च व्यक्तित्व का हृदयस्पर्शी चित्रण, एक अंग्रेज़ अफ़सर के वीर चरित्र का निष्पक्ष दिग्दर्शन, टुकड़-खोर भारतीय अफ़सर के पतित चरित्र का घृणित वर्णन और एक अबोध युवती के मुग्ध प्रेम की गाथा बड़ी-ही मर्म-वेधिनी हो उठी है। दूसरी कहानी में लेखक की कल्पना का अद्भुत चमत्कार है। ग़दर के बाद—विजय और प्रतिहिंसा से अन्धे विदेशियों ने भारतीयों पर जो पाशविक अत्याचार किये, उनका रोंगटे खड़े कर देने वाला वर्णन है। तीसरी कहानी में एक साम्राज्य-विरोधनी संस्था और उसके सदस्यों तथा उनके कारनामों का रहस्य-पूर्ण बयान है। यह पुस्तक प्रत्येक भारतीय के कलेजे में छुपकर रहने की चीज़ है। पढ़कर शरीर थर्रा उठेगा!

चार भयङ्कर चित्र! मोटा काग़ज़!!

मूल्य सिर्फ़ डेढ़ रुपया।

अन्त

(लेखक—श्री ऋषभचरण)

श्रीयुत् ऋषभचरण का एक बिलकुल मौलिक और शिक्षाप्रद उपन्यास। नीच और उच्च, पापी और धर्मात्मा, सरल धूर्त—सभी प्रकार के पात्र 'अन्त' में काम करते हैं। घटनाओं की विचित्रता, मानसिक-भावों का शैथिल्य और प्राबल्य, प्रेम और मित्रता पर मर मिटने के भाव, सन्तान के प्रेम में बड़ी-से-बड़ी कुरबानी करने वाले माँ-बाप के मानसिक भावों का सच्चा चित्रण, और फिर दो अतृप्त आत्माओं के मिलने का भाव-पूर्ण अन्त !! पढ़ कर कलेजा थाम लेना पड़ता है।

मूल्य डेढ़ रुपया।

मेघ-माला

(लेखक—श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी)

हिन्दी के माननीय नवयुवक-कवि और सफल कहानी-लेखक श्रीयुत् दुर्गादत्त त्रिपाठी की बारह कहानियों का संग्रह। काव्यात्मक, रहस्यात्मक, चित्रणात्मक, और विज्ञानात्मक स्तम्भों के अन्तर्गत तीन-तीन सरल कहानियों का संग्रह किया गया है। 'साक़ो,' 'आह !', 'जीवन का मौन,' 'उतरा हुआ मद'—इत्यादि एक-एक कहानी को बारबार पढ़िये और वाह-वाह कीजिये। कहानियाँ क्या, साहित्यिक तीर हैं, जो हृदय में आकर टक्कर मारते हैं।

मूल्य एक रुपया।